आमने सामने



अपर्णा प्रकाशन, बीकानेर

शालिग्राम शर्मा

आलतो जालतो

आवरण : अमित भारती
प्रकाशक : धरती प्रकाशन गंगाशहर बीकानेर
मूल्य : 40.00 रुपये
संस्करण : 1990
© : लेखकाधिकार
मुद्रक : शान प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

AAMNE SAMNE (Satire) by Mali Ram Sharma

अपनी तरफ से

बातचीत अगर हो तो आमने-सामने ही हो, ठीक रहता है, खुलकर बात कह भी दो और सुन भी लो। किसी वकील के जरिये या किसी को मध्यस्थ बनाकर बात की जाए तो बात इतनी कारगर नहीं होती। वकील लोग कई बार पूरा 'व्यू पॉइण्ट' पेश नहीं कर पाते।

राजनयिक लोगों की भाषा में इसे 'डाइरेक्ट डिप्लोमेसी' की शैली कहते हैं। जब दो राष्ट्र बिना किसी मध्यस्थता के बात करते हैं तो शैली हो जाती है द्विपक्षीय बातचीत की, बाइलेटरलिज्म की। इन सबसे हटकर जब व्यक्तियों के बीच आमने-सामने बात होती है, तो शैली हो जाती है परिसम्वाद की।

सम्वाद किसी से भी हो सकता है, पनवाड़ी से, भेड़ चराने वाले से, बाल काटने वाले से, ऊंट चराने वाले से, दही-बड़े की चाट बेचने वाले से। इसके लिए शर्त हो तो एक ही होनी चाहिए, विश्वविद्यालय से प्राप्त किसी डिग्री की, या किसी प्रकार के लाइसेन्स या परमिट की जरूरत नहीं।

अगर आमने-सामने बैठकर संभाषण किया जाये तो एक बात और स्पष्ट होती है। पान बेचने वाला भी ऐसी बात या विचार बेच सकता है जो विज्ञान भवन में बैठकर बात करने वाले के भेजे में पैदा ही नहीं होती। कभी-कभी एक भेड़ चराने वाले के पास भी कहने को कुछ ऐसी चीजें होती है जिसे सुनकर आदमियों को चराने वाले की अक्ल भी चक्कर में पड सकती है। परन्तु इसे मानने को कोई तैयार नहीं होता। कारण शायद

यह हो सकता है कि ये लोग आंख और कान दोनों ही बन्द रखते हैं। कान तो तब खुलते है जब रेडियो खुलता है, रेडियो के जरिये ही कान में बात पहुंचे। बाकी भीड़ मे कोई रौला-रप्पा करे तो वह सुनने लायक नहीं होता। एक बधी-बधाई मान्यता है। इसलिए कानो मे जानबूझकर रूई दबाई जाती है।

आखें तो उस सूरत मे खुलें जब किसी अखबार में लिखा हुआ हो, किसी किताब मे लिखा हुआ हो। वैसे भीत पर लिखा या अनलिखा पढ़ने की आदत नही। दुनिया अपने-आपमें एक बहुत बड़ी खुली किताब है। यह बात बंधी-बधाई मान्यता से मेल नहीं खाती। मान्यताएं व मर्यादाएं कोई आज की चीज नही, युगो से चली आ रही है। इसी बिना पर हर मान्यता पवित्र है। पवित्रता को नष्ट करना एक कुफ़ है।

कई बार एहसास होता है कि कुफ़ तो हो रहा है परन्तु ज्यों-ज्यों सम्वाद आगे चलता है तो एक बात स्पष्ट हो जाती है। कुफ़ कहा है, पता चल जाता है। सबसे बड़ा कुफ़ तो यह है कि हम बात की क्वालिटी नहीं देखते, वरन देखते हैं बात करने वाले की 'क्वालिफिकेशन' तथा उसकी पूछ की लम्बाई। एक पनवाड़ी जब एक पान के साथ ज्ञान की बात बेचता है, तो हम थूक उछालने लगते है कि यह कैसे हो सकता है। उसके पास ज्ञान बेचने का लाइसेन्स नही है और उसका सारा का सारा ज्ञान ही 'कोण्ट्राबैण्ड' है।

सारी समझ एक 'ए केटेगरी' के ठेकेदारों को ठेके पर उठा दी गई। ऐसी हालत में बेगाराम की दरखवास्त को कौन सुने ? दरखवास्त फाइल कर दी गई। 'वन वे ट्रेफिक' का नियम बडी सख्ती से पालन हो रहा है।

चलो, कुफ़ क्या है, काफिर कौन है, एक बहस हो सकती है।

अगर बहस की बात है तो फिर भी इसके लिए सम्वाद हो जाये आमने-सामने बैठकर। बाद की बातें बाद में देखी जाएंगी। बहस अभी खतम होने थोड़े ही जा रही है। बहस तो लम्बी चलेगी, सारे मुद्दे आज ही हल होने थोड़े ही जा रहे हैं। बहस चालू है।

बीकानेर (राजस्थान) —सालीराम शर्मा

क्रम

कुछ बातें जो किताबों में नही होतीं

डाक्टर अग्रवाल आए तो साथ मे दो-चार और सज्जन थे। ये स्थानीय कालेज में लेक्चरार थे और मुझे इनसे कई बार मिलने का मौका भी मिला था। व्यक्तिश: भी और कालेज मे भी। परन्तु डाक्टर अग्रवाल से मिलने का यह पहला ही मौका था।

भिड़ते ही मुझे परिचय में बतलाया गया कि डाक्टर अग्रवाल स्थानीय कालेज मे भौतिक शास्त्र के वरिष्ठ प्राध्यापक हैं और आप लखनऊ से पधारे हैं। मैंने औपचारिकता का निर्वाह करने का पूरा यत्न किया और यह कहना नही भूला कि आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। मुझे अपना परिचय देने की नौबत ही नही आई। उनके साथियों ने शायद पहले ही उन्हें 'ब्रीफ' कर रखा था।

"तो, डाक्टर साहब तो शायद अभी-आए हैं?" मैंने मुलाकात मे आत्मीयता लाने के लिए 'टेक्स्ट बुक मेथड' से बात चालू की।

"पिछले ही हफ्ते।" डाक्टर साहब ने लखनवी मुस्कान के साथ जवाब दिया।

"पर मुझे तो डर है कि लखनऊ के माहौल में पला हुआ व्यक्ति राजस्थान की धूल को बर्दाश्त भी कर सकेगा?" मैंने आशंका व्यक्त की।

"आप लखनऊ गए हैं कभी?" मुस्कान के साथ सवाल हुआ।

"लखनऊ जाने का तो मौका नही मिला, पर मेरे एक अजीज है जो लखनऊ में जन्मे और इलाहाबाद में पनपे। लखनऊ की नजाकत देखी तो नही, पर सुनी है कि इलाहाबाद की तरफ रुख करने से एक लखनवी को

जुकाम हो जाता है क्योंकि इलाहाबाद में अमरूद होते हैं, लखनऊ में ... मीटर रखने ही नहीं, सरदियों में सरदी रजाइयों से मापी जाती है। ... के बारह बजे भी बिना छतरी के जाना लखनवी तहजीब में बुरा ... जाता है।"

मैं शायद कुछ और कहता कि डाक्टर साहब बोले—

"आप तो लखनऊ के बारे में पूरी जानकारी रखते हैं।"

हम सभी लोग हंस पड़े।

"पर डाक्टर साहब, मुझे तो आश्चर्य यह हो रहा है कि आपने फिजिक्स में डाक्टरेट हासिल की, यह तो लखनवी 'जीनियस' से मेल खाती चीज नहीं है।" बात में कुछ सरगर्मी लाने के लिए मैंने एक पटाखा छोड़ा।

खैर, पटाखे से तो हर राहगीर चौंक पड़ता है, डाक्टर साहब भी चौंके।

"यह तो कोई बात नहीं। लखनऊ में अपनी युनिवर्सिटी है। भारतीय स्तर की ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वैज्ञानिक प्रतिभा वहां विकसित हुई है और मान्यता भी प्राप्त हुई है। लखनऊ की अपनी शान है जिसका कोई सानी नहीं। वहां की तहजीब है। वहां की नजाकत के बारे में सुना है, पर नजाकत के साथ वहां की नफासत है, वहां का अपना ही लहजा है, बात का, सलीके का।"

डाक्टर साहब ने लखनवी नफासत के साथ-साथ लखनवी तेवर का भी हल्का अहसास कराया। शायद एक लखनवी का एक लखनवी सेण्टीमेंट भी होता है। मुझे अपने दोस्त की बात याद है। उसने सुनाया था कि एक लखनवी पनवाडी ने एक अजनबी को पान देने से इसलिए इन्कार कर दिया क्योंकि उसने एक सिंगल पान मांगा था जबकि एक रिहायशी लखनवी पान का जोडा खाता है और सिंगल पान खाना तहजीब के खिलाफ समझा जाता है। मेरे दोस्त के लड़के के अनुसार तो लखनऊ का पनवाडी जब अपने ही सामने लखनवी शान को ढहते हुए देखता है तो वह तिलमिला उठता है। वह हैरान है कि इन नये लौंडों को न तो पान के जायका का पता है और न पान को मुंह में रखने के तरीके का। दिल की बात जबान

पर आ जाती है :

"बदतमीज कहीं के ! आ गए हैं पान खाने को। इनके बाप-दादों ने भी पान खाए थे क्या ? कोई शऊर नहीं।"

खैर, डाक्टर अग्रवाल के तेवर मे वह तुर्शी नहीं थी जिसके कारण कई हो सकते हैं। परन्तु एक बात जरूर है। आदमी चाहे पढ़ा-लिखा हो या अनपढ हो, मगर एक बार किसी प्रकार की तख्ती गले में बंध जाए तो वह आखिरी दम तक उस तख्ती की लाज रखेगा। तख्ती चाहे लखनवी या बनारसी की हो, हिन्दू-मुसलिम की हो, बंगाली-बिहारी की हो, वह सब-कुछ हटा सकता है, अपनी शिक्षा व संस्कार, सभ्यता का आवरण, वह अपने कपड़े तक हटाकर नंगा हो जाएगा, पर वह तख्ती जो गले मे बंध गई, किसी कीमत पर नहीं हटेगी।

मैंने बात ठण्डी नहीं होने दी बल्कि जलती में पूला डाल दिया। "डाक्टर साहब, मेरा मतलब तो इतना ही था कि लखनऊ का मिजाज शायराना है, आशिकाना है। साइन्स मेरे हिसाब मे अदब से मेल नहीं खाता। साइन्स एक इल्म है। इल्म और अदब बिल्कुल दो अलग चीजें हैं जैसे कि आयुर्वेद और एलोपैथी। इल्म से ज्यादा अहमियत अदब की है।"

मुझे बात पूरी भी नहीं करने दी और मेरी बात की उस छोटी-सी मजलिस मे भयंकर व तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इस बार डाक्टर साहब अकेले नहीं थे। उनके साथ केमिस्ट्री और जीव-विज्ञान के प्राध्यापकों ने भी सहयोग किया।

"देखिये, साहब, आप लोग मुझे अपने घर मे ही पूरी बात करने की इजाजत नहीं देते, यह तो मेरी ही नहीं, भारतीय संविधान मे प्रदत्त मूल अधिकारों की भी अवहेलना है। अभिव्यक्ति का अधिकार तो हर नागरिक को है ही, क्यों डाक्टर साहब ?" मैंने हंसते हुए कहा। मजलिस हंस पड़ी, एक कहकहे के साथ।

"विद ड्यू अपोलॉजी टु साइन्स हैण्ड्स, मेरी तो निजी धारणा यहां तक बन चुकी है कि साइन्स और कॉमर्स का आदमी अच्छा अफसर ही नहीं बन सकता।"

मेरी बात ने बम का काम किया। मेरी बात पूरी होने ही नही दी गई और इस बार की प्रतिक्रिया और भी भयंकर। कॉमर्स के लेक्चरार को, जो अभी तक गुटनिरपेक्ष बने हुए थे, दीवार से कूदने मे देर नही लगी। उनका ब्लॉक एकदम ठोस। डाक्टर साहब ने मेरी बात को केवल एक निजी खयाल बताया जिसके पीछे न कोई तर्क और न कोई बुद्धिगम्य आधार। केमिस्ट्री वाले सज्जन को तो मेरी बात से खासा-अच्छा धक्का लगा और शायद उनकी मेरे बारे मे बनी हुई धारणा ही बदल गई हो। उन्होंने बड़े ही रूखे शब्दों में अपनी बात कही।

"आप इस तरह से भी सोच सकते हैं, मैं तो ख्वाब में भी नही सोच सकता था।

मेरी बात का धमाका वैसा हुआ जैसा पोकरण में भारतीय अणु-परीक्षण का हुआ होगा। इस छोटी-सी मजलिस की प्रतिक्रिया बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी कि पोकरण की प्रतिक्रिया विश्व की प्रमुख राजधानियों में हुई।

मेरी बात ने एक कण्ट्रोवर्सी खड़ी कर दी। विज्ञान तथा वाणिज्य वर्ग के हिमायती लोगों ने एक ब्लॉक बना लिया। साहित्य और कलावर्ग का हिमायती केवल मैं ही। दो साथी जरूर थे, मगर चुप। कारण शायद यही रहे हो कि उन्हें या तो मेरी दलील में दम नजर नही आया या वे जान-बूझकर कण्ट्रोवर्सी से बचना चाहते हो। आज के जमाने में कण्ट्रोवर्शियल आदमी बनना कोई नही चाहता।

मुझे भी एक तरह का मजा आने लग गया था। आखिर बात मे तो जरा गर्मी आए। जेब मे गर्मी लाना हर आदमी के वश मे नही होता, लेकिन बात मे तो गर्मी लाई जा सकती है, इस बात का आर्ट तो मैं जानता था काफी हाउस मे, गाडी मे यात्रा करते हुए तथा टी-क्लब मे इस आर्ट को बहुत बार आजमाया है। जरा-सा पटाखा छोड़ो और लोग चमक उठेंगे। मैंने भी एक मुस्कराहट के साथ निवेदन किया—

"देखिए डाक्टर साहब, आप मुझे कहने का हक दें तो मैं कहूंगा कि कला का आदमी एक अच्छा अफसर बनता है।"

"आखिर आपका तर्क क्या है ?" डाक्टर का आग्रह था।

"तर्क तो एक नही, अनेक दे सकता हूं, मैंने निवेदन शुरू किया। "और मेरा सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि कला का आदमी प्रतिबद्ध नहीं होता।"

"बात स्पष्ट कीजिए," डाक्टर ने सिर हिलाते हुए कहा।

"कला का आदमी हनुमानजी की तरह होता है।" मुझे हंसी आ गई और सभी लोग हंस पड़े।

"हनुमानजी की तरह से आपका मतलब क्या है? पहेलियां न बुझाइए।" केमिस्ट्री के लेक्चरार बोल पड़े।

"हनुमानजी के बारे मे तो आप लोग जानते ही हैं। ज्यों-ज्यों सुरमा बढ़ी, हनुमानजी बढ़े। सोलह योजन मे बत्तीस हुए, चौंसठ हुए और एक सौ अट्ठाईस योजन हुए। पर सुरसा भी उसी तरह बढ़ती गई। हनुमानजी महाराज ने अगर साइन्स के फॉरमूले पढ़े हुए होते या एक ही तरह की गणित पढ़ी हुई होती तो बस दूने होते जाते और एक स्टेज आ सकती थी जबकि हनुमानजी महाराज की रीढ़ की हड्डी से शरीर का बैलेन्स संभलता नहीं। इसका नतीजा यह भी हो सकता था कि सुरसा और हनुमानजी दोनों ही गिर पड़ते। परंतु जब हनुमानजी ने देखा कि एक ही तरह का गणित ठीक नही, वे मच्छर बन गए तो सुरसा चारों खाने चित्त। यही बात तो शेक्सपियर का फाल्स्टा कहता है, किस समय क्या बुद्धि लगाई जाए, इसी का नाम तो बहादुरी है। यही एक बात है जो एक कला का ही आदमी जानता है, विज्ञान और वाणिज्य का आदमी नही जानता। एक सौ अट्ठाईस योजन की लम्बाई से मच्छर बन जाना।" मैंने बात पूरी भी नही की थी कि सब लोग खिलखिलाकर हंस पड़े।

"आप इसको मजाक में ले रहे हैं, गम्भीरता से सोचिए। एक विज्ञान का अध्यापक कक्षा में जाता है, उसे फॉरमूला याद नही, उसकी तो गाड़ी अटक गई। वह तो आगे नही चल सकता। दूसरी तरफ एक इतिहास का अध्यापक कक्षा में जाता है और पढ़ाना शुरू करता है, 'शेरशाह सूरी'। उसका पाठ शुरू होता है—

"प्यारे बच्चो, शेरशाह का बचपन का नाम था मुराद। वह बिहार में सहसराम···

"बीच में एक लड़का खड़ा होता है और बोलता है, सर उसका नाम मुराद नही फरीद था।

"अध्यापक जरा भी विचलित नही होता और लड़के को बैठने का इशारा करते हुए एक वाक्य और बोल देता है—

'हां, कुछ इतिहासकारो का मत है कि उसका पुराना नाम फरीद था।' कक्षा आश्वस्त। प्रश्नकर्ता आश्वस्त।

"परन्तु विज्ञान का अध्यापक यह थोडे ही कह सकता है कि यह फॉरमूला भी सही और वह फॉरमूला भी सही। उसके पास ऐसा 'आप्शन' नही।"

सब लोग फिर खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं।

"हम मान गए, कला का आदमी अच्छा अफसर बन सकता है।" डाक्टर अग्रवाल बोले।

"मैं जानता हू, आप माने नही। आप मजाक मे बात ले रहे हैं यही चोट शेक्सपियर के साथ मे हुई और अन्त मे एक मूर्ख पात्र के मुह में रख कर बात कहनी पड़ी: 'लोग समझते रहे कि मैं मजाक कर रहा हूं जबकि मैंने सही और सच्ची बाते ही कही।' बस, यही स्थिति मेरी है। आप मेरी बात समझ नही पा रहे हैं। आज की दोहरी मान्यताओ के युग में बात ऐसी कही जाए कि उसकी दो ध्वनियां निकलें। एक ही प्रश्न का जवाब 'हा' भी हो और 'ना' भी। यह तो कला वर्ग का ही व्यक्ति कर सकता है क्योंकि वह प्रतिबद्ध नही होता। उसके तो जेनस की तरह दो मुह होते हैं और दोनो मुंहो से एक साथ दो बातें कह सकता है। एक-दूसरे के कण्ट्रेडिक्टरी। बात बिगड़ने लगे तो एक मुह दूसरे मुह की बात को काट कर दे।

"तुम साइन्स और कॉमर्स के आदमी नियमों की बात करते हो और जीवन मे भी नियमो को लागू करने की चेष्टा करते हो। नियम मशीन पर लागू होते हैं। मशीन नियम से चलती है। उसकी गति व व्यवहार-पद्धति नियमों से आबद्ध होती है। मशीन मे कल-पुर्जे होते है। मोटर को ले लीजिए। उसकी स्पीड अगर आपने तय कर दी तो वह उसी हिसाब से चलेगी पर आदमी की गति आप तय नही कर सकते। आदमी मशीन नही

है, उसके दिल है, अन्तरात्मा है। उसकी अन्तरात्मा कब क्या बोल दे, आप कुछ नहीं कर सकते। उसके खुद के बनाए हुए नियम वह खुद ही तोड़ दे यदि उसकी अन्तरात्मा चुपके से कह दे।

"आदमी नियम बनाता है तोड़ने के लिए। नियम चाहे आदमी के हों चाहे भगवान के। उसको फांसी दो या नरक। विज्ञान व कॉमर्स के आदमी तो कमिटेड हैं। यह एक फण्डामेण्टल फर्क है, इसलिए आप लोग अच्छे अफसर नही बन सकते, नेता नही बन सकते।"

मैं शायद कुछ और कहता, परंतु घन्ना चाय ले आया।

"लो, चाय आ गई। मजलिस का 'प्री-टी' सेशन तो खतम हुआ। अब चाय पीजिए," मैंने प्रस्ताव किया।

"आपकी बातें भी ताजगी देने वाली होती है," डाक्टर अग्रवाल कप उठाते हुए बोले।

"डाक्टर साहब, मैं आपको खुद के राज की बात बताए देता हूं। इसी चाय की वजह से तो बातें कर सकता हूं। मेरा तो खयाल है, समुद्र मन्थन में चाय भी निकली थी। देव और दैत्यों को चाय का महत्त्व समझ मे नही आया होगा। इसे बेकार समझकर धरती पर फेंक दिया। चाय एक नैसर्गिक पेय है।" मैंने भी चाय का घूट लेते हुए कहा।

"किसी चाय की कम्पनी को पता लग जाए तो वह आपको एजेण्ट बना ले।" एक कमेण्ट आया।

फिर एक कहकहा।

"चलो, वह तो देखा जाएगा, पर आपका आना कैसे हुआ? मेरे लिए कोई सेवा का अवसर प्रदान कीजिए।" मैं औपचारिक हो गया।

"कोई मकान तो दिलाइए, क्या यो ही बैठे रहेंगे।" डाक्टर अग्रवाल बोले।

"मैं तो खुद सेठ गांठिया जी की मेहरबानी से इस मकान मे बैठा हूं।" अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए बोला।

"मैं भी तो यही कह रहा हूं कि गांठिया जी से हमारा भी परिचय कराइए। गांठिया जी इस बारे में पूरी मदद कर सकते हैं।" डाक्टर साहब ने बात को और स्पष्ट किया।

'बशर्ते कि गांठिया जी चाहें।" मैंने एक सुरप मारी।

"इसीलिए तो आपके पास आए हैं। गांठियाजी तो आपके हाथ के आदमी हैं।" डाक्टर अग्रवाल मुझे समझाने लगे।

डाक्टर साहब न्यूट्रोन और प्रोटोन की तो बात कर सकते हैं, परन्तु मेरे गांठिया जी तो एक ऐसे सेठ हैं जो न हिप्नोटाइज होते हैं न डिमोरेलाइज। कई करोड़पति इनकी जेब में रहते हैं। सच पूछो तो जमाना ही ऐसा आ गया है कि लोग देखते हैं कि आपकी जेब में क्या है। दिमाग में क्या है, कोई जानने की भी कोशिश नही करेगा। आपके दिमाग मे आला-आला चीजें हो सकती हैं, पर बेमाने हैं।

अगर आपकी जेब खाली है और दिमाग भरा हुआ है तो भी बेकार। आपकी जेब गर्म होनी चाहिए, आपकी जेब की गर्मी का कुछ भाग अगर दूसरे की जेब मे चला गया तो आपका काम बन गया। आजकल लोग जेब पर फ्लैप लगाते हैं ताकि कोई जेब मे झाक नही सके। आजकल तो जेब का बोलबाला इस कदर बढ गया है कि बड़े-बड़े ग्रन्थ भी अब जेबी हो गए। जब तक ये जेबी नही थे तो अलमारियों मे बन्द पड़े थे। अलमारी मे बन्द हो चाहे दिमाग मे बन्द हो, बात एक ही है। पर जब इनके जेबी संस्करण शुरू हुए तो प्रकाशक और लेखक दोनो की जेबें भर गई। हर लेखक यही चाहता है कि उसकी किताब का जेबी संस्करण हो। हर आदमी जब कोई नयी योजनाएं बनाता है तो उसका खयाल यही रहता है कि दिमागी आइडिया जल्दी से जल्दी जेब मे पहुंच जाए। आइडिया जब तक दिमाग मे है, सारी बात थ्योरेटिकल है। परन्तु जब आइडिया जेब मे पहुच जाता है तो बात प्रेक्टिकल हो जाती है। लोगों का ध्यान जेब की ओर रहता है। बहुत ही प्रेक्टिकल लोग तो वे होते हैं जो जेब मे हाथ डाले खड़े रहते हैं और आंख जिनकी दूसरों की जेबों पर लगी रहती है।

आज का सबसे पेयिंग धधा भी जेब काटना है। परन्तु हर आदमी को यह धन्धा नही आता क्योंकि आजकल यह धन्धा बड़ा ही सोफिस्टिकेटेड हो गया है। आप डाक्टर हैं फिजिक्स में। आप न्युक्लियर फिजिक्स की बात जानते हैं, अणु और परमाणु को तोड़ने की बात जानते है। एटमिक फ्यूजन

और फिशन की बात कर सकते हैं पर आप जेब काटने की बात नहीं जानते चाहे आप डाक्टर के भी डाक्टर हो जाएं। यह बात जानता है सेठ गाठिया जी। सेठ गांठियाजी अपनी जेब कटने नहीं देता। उसकी जेब में है आपके नेता, आपके मंत्री, आपके सरकारी अफसर, आपका विधान, आपका न्याय। उसकी जेब में फालतू चीज कोई नहीं होती। इसलिए आप और मेरी तरफ गांठियाजी की नजर ही नहीं पड़ेगी। क्या आप बतला सकते हैं, क्यों?

मैंने चलते मे सवाल कर दिया और डाक्टर अग्रवाल कुछ नहीं बोले। केवल सिर हिला दिया जिसका मतलब था, उनकी तरफ सेना है।

"इसका सीधा-सादा मतलब यह है कि आपका यह सोचना कि गांठियाजी पर मेरा असर है, गलत ही नहीं बल्कि वेबुनियाद है।"

"पर लोगों ने तो यही कहा," डाक्टर ने बीच में बात कह दी।

"लोगों के इतनी बात समझ में आ जाती तो आज देश की दिशा और दशा ही और होती। परन्तु आप तो सोचिए। सेठ गाठियाजी की नजर केवल दो तरह के व्यक्तियों पर हो सकती है, अव्वल तो वे लोग जिनकी खुद की जेबें भरी हुई हों और दूसरे नम्बर पर वे लोग जो ब्लेड का काम दे सकते है।"

ब्लेड के नाम से डाक्टर अग्रवाल चौंके।

"चौंकिए नहीं, ब्लेड से मेरा मतलब उन लोगों से है जिनके प्रभाव व आतंक मे वह दूसरों की जेब काट सकें। मसलन एक पुलिस का बड़ा अधिकारी है, कोई सेल्सटेक्स का अधिकारी। उनका सब लोगों से सीधा सम्पर्क होता नहीं। उन्हें चाहिए कुछ ऑनिस्ट ब्रोकर्स। कुछ ईमानदार दलाल। दलाल का एक ऐसा धन्धा है जिसमें दलाली दोनो तरफ से ली जाती है और जायज होती है। कानून मे मान्यता प्राप्त है। बड़े-बड़े दलाल तो दलाल स्ट्रीट मे रहते हैं। लाठियाजी, कांठिया, बांठिया, टांटिया, ततैया, भिड वगैरह-वगैरह। गाठियाजी दलाल स्ट्रीट की तरफ मुह करके यहां बैठे है। जब भी किसी को कोई ईमानदार दलाल चाहिए तो वे किससे बात करें सिवाय गांठियाजी के। गाठियाजी के कई गांठें है और हर गाठ एक आइलैण्ड का काम करती है। हर आइलैण्ड में तरह-तरह के लोग

बैठे है। तस्करी करने वाले, ब्लैक मार्केटिंग करने वाले, प्रोफेटियर, अडल्ट्रेशन करने वाले। गाठियाजी एक समुद्र के समान हैं। उस समुद्र मे मगरमच्छ है, साप हैं, सीपियां है, मोती हैं, हीरे हैं। गाठियाजी मुह से बात नही करते। उनकी तो जेब है। जेब मे डाल दो। जेब में से निकाल लो।

"अब आप बताइए, गांठियाजी आप और हमसे क्या बात करें? जैसे कि मैंने पहले भी अर्ज किया था कि वे बोलते तो हैं ही नहीं। बोलने वाले हैं तो आप हैं, मैं हू। खाली जेब वाले ही तो जीभ काम में लाते हैं। गाठियाजी से हम लोग बात भी करें तो क्या करें। हमारी जेब को तो वे जाने हुए है कि खाली है और ब्लेड का काम दे सकें, ऐसी हमारी कुव्वत नहीं। हम तो उनके उल्टे मछली पकड़ने के धन्धे मे गड़बड़ ही करा सकते है। उनकी दलाली देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं है।

"इसलिए मेरा आपसे यही कहना है कि आपने गलत ही समझ लिया कि मेरा गांठियाजी पर असर है। गाठियाजी पर किसी का असर नहीं है। आप कहें तो मैं आपको अपने साथ लिवा ले जा सकता हूं। गाठियाजी के घर पर बड़ी भीड रहती है। बड़े-बड़े भिखमगे, चन्दाखोर। गाठियाजी की सिफ्त तो देखो, वे बोलते-चालते कुछ नही। अपने जेब में हाथ डाले हुए उन सबकी सुनते हुए गृहप्रवेश करते है। वैसे किसी को दो मुट्ठी दाने डालकर टरका देते है, तो किसी को नोटो के बण्डल देकर। गौशाला वाले, अनाथाश्रम वाले आदि कई प्रकार के भिखारी होते हैं। गाठियाजी की तारीफ तो यह है कि वे जानते है कि कौन से गौशाला मे गाये पल रही है तो कौन-सी गौशाला मे सफेद गायों के बदले कौन-से सफेद जानवर पल रहे है। गाठियाजी को यह भी मालूम है कि गौशालाएं खतम हुई तो फिर बूचड़खाने भी खतम। अगर बूचडखाने खतम तो चमड़े के कारखाने भी खतम। खैर, विभिन्न प्रकार के लेबल लगाए हुए भिखारी वहा होते हैं तो कुछ भिखारी दिन-भर की अपनी भिक्षावृत्ति व चन्दे की रकम भी गांठियाजी के यहा जमा कराते है। अगर आप कहें तो, अपने भी चलें और सेठ गाठियाजी से बात करें, परन्तु सारी वस्तुस्थिति आपके सामने है। मैंने अपनी तरफ से अपना दृष्टिकोण तथा दृष्टि प्रस्तुत कर दी। बात मोटे तौर पर है एनलाइटेड सेल्फ इण्ट्रेस्ट की।"

"गांठियाजी के बारे में आपने मुझे नयी जानकारियां दी। गांठियाजी के बारे में सुना तो बहुत था। कहते हैं कि वे सबको चंदा देते हैं, और यह भी सुना था कि आपकी वे बड़ी कद्र करते हैं। हो सकता है कि आपने यों ही अपनी धारणा बना रखी हो। आपके कहने से पिछली बार उन्होंने कई जगह चन्दा दिया, यह तो शहर मे चर्चा है।"

डाक्टर अग्रवाल ने बात पूरी भी न की थी, मुझे हंसी आ गई। "देखिए डाक्टर साहब, अगर कोई बनिया एक रुपये की छीलर देता है तो भी समझ लेना चाहिए कि इसमे कोई मतलब होगा, कोई स्वार्थ होगा वर्ना बनिया क्यों आपको सौ पैसे दे, गिनने का कष्ट करे। निःस्वार्थ भाव से तो वह दो कदम ही नही चलता। फिर एक रुपये के सौ पैसे क्यों दे? या तो उसे खोटे सिक्के पार करने होगे या कोई और बात होगी, जिसका अर्थ आज तक मेरी समझ मे नही आया है।"

"इसको कहते हैं—बायस्ड आउटलुक," डाक्टर ने निर्णय दे दिया।

"मैं भी चाहता हूं कि मेरा निष्कर्ष गलत हो। मैंने भी कई बार आत्मावलोकन किया और आपकी तरह सोचा पर मुझे शीघ्र ही अपना निर्णय बदलना पड़ा। हाल ही की एक ताजा घटना सुनाता हूं। गांठियाजी ने दो-चार अपने पुराने ड्राइवरो को टैक्सिया दिलवाई। पैसा दिलवाया सहकारी समितियो से, या कुछ राष्ट्रीयकृत बैंको से। सेठजी ने उनकी आइडेंटिटी तस्दीक कर दी। इन आदमियो में से एक गणेश को मैं जानता हूं। मैंने भी यही सोचा कि गणेश पुराना ड्राइवर है और गाठियाजी ने उसकी पुरानी सेवाओ का ख्याल रखते हुए ही ऐसा किया होगा। परन्तु कुछ दिन पहले जब गणेश और उसकी टैक्सी पकड़ी गई तो सुनने को मिला कि गणेश तो सोने के बिस्कुटो की स्मगलिंग मे लगा हुआ था। गणेश अन्दर। टैक्सी बैंक को हाइपोथेकेटेड थी। बैंक बोली, चिल्लाई। कुछ भीतरी सर्किल के लोगों का कहना है कि गणेश व अन्य ड्राइवर गाठियाजी के लिए स्मगलिंग करते थे परन्तु ऐन वक्त पर गणेश अन्दर गया, टैक्सी के लिए बैंक रोए। पर गाठियाजी क्यो रोएं? वे तो शुद्ध है, साहूकार हैं। एक और दिलचस्प बात है। गाठियाजी ने एक पोल्ट्री फार्म खोल रखा है, बम्बई में मैंने सुन रखा था, परन्तु मेरी समझ मे यह बात

कभी नही आई कि गाठियाजी जैसे व्यक्ति ने यह धन्धा क्यों अपनाया है? कोई बोला कि पौल्ट्री का धन्धा अच्छा है। वहां पर बिना मुर्गा ही मुर्गियां अण्डा देती हैं परन्तु जब मीसा के अन्तर्गत कई पौल्ट्री फार्मों पर रेड हुए तो पता पड़ा कि ये सारे के सारे पौल्ट्री फार्म भी स्मगलिंग की शृंखला में जुडे हुए थे। मुर्गिया पालने की जगह ऐसी मुर्गियां पाली जाती रही जो सच मुच मे सोना के अण्डे दे रही थी, सोने के बिस्कुट देती रही, घड़ियां देती रही। अब सेठ गाठिया के नाम से चलने वाला मुर्गीखाना बन्द। उनके मुर्गीखाना तथा गोशाला के चन्दे के पीछे मूल धारणा एक ही थी। सुनते हैं कि गाठिया जी ने सारी मुर्गिया आजाद कर दी हैं। सेठजी ने वैसे कई पक्षियों को भी पैसे दे-देकर पिंजड़े में से छुडाया है, मुर्गियां भी अब पिंजड़े से आजाद हैं।

"यह सारी जारकारियां ही मेरे लिए नयी है, परन्तु आप कुछ भी कहें सेठ गाठियाजी आपसे तो बहुत प्रभावित हैं, यह तो मेरी फर्स्टहैण्ड जानकारी है, परन्तु आप इसको किस प्रकार इण्टरप्रेट करेंगे, यह तो आप ही जानें।" डाक्टर अग्रवाल अपनी बात पर अडिग।

"तो फिर आप ही मदद कीजिए। हाईपोथेसिस आपके पास है। मेरे बारे में आप जानते ही हैं। करिये फिर साइंटिफिक अनेलिसिस। कोई डाटा चाहिए तो पूछ लीजिए," मैंने बात को दूसरा टर्न दिया।

"मैं तो बाहर की चीजें जानता हू, कई इनसाइड की बातें भी तो हो सकती हैं।" डाक्टर अग्रवाल ने चुटकी ली।

सभी लोग हंस पडे।

"बात तो गहरी ही होनी चाहिए जब गाठियाजी जैसे लोग आपका लोहा मानते हैं।" पास मे बैठे प्रोफेसर चतुर्वेदी बोले।

"आखिर, आप लोगो के इरादे तो नेक हैं।" मैंने चलती बात ठंडी नही होने दी।

"इसके अलावा, आपके पास हर समय पांच-दस आदमी बैठे रहते है। शहर के जाने-माने इटेलेक्चुअल लोग आपके पास बैठे रहते हैं, रात के दो-दो बजे तक। यह क्या कुछ इंगित नहीं करता?" प्रोफेसर चतुर्वेदी बोले।

मुझे जोर की हंसी छूटी। लोगों ने स्मित हास के साथ मेरा साथ दिया।

"अब सारी बात समझ मे आ गई।" मैंने कहना शुरु किया, "यही गलती है सारे हाईपोथेसिस मे। इसके इण्टरप्रिटेशन में।

"यह तो सच है कि मेरे पास पांच-दस आदमी बैठे जरूर रहते है। सबके मुखौटा भी लगा हुआ होता है, बुद्धिवादी का, प्रबुद्ध वर्ग का, नव-चेतना के अग्रदूतों का।

"मैंने अकेले में कई बार सोचा भी। मैंने अपने-आपसे सवाल किया।

"मैं क्या करता हूं, सिवाय चाय पर चाय की प्यालियां खतम करने के, एक-दो पैकेट सिगरेट का धुआं उड़ाने के।

"बातें करता हूं, ज्ञान बेचता हूं, चायघरों मे, अपनी बैठक में भी, बाते ही बातें, देश-विदेश की, राजनीतिक व सामाजिक मुद्दों व मसलों पर।

"मेरे अन्दर भी कभी अन्तरात्मा होती थी जो दब गई होगी या चाय के निरन्तर सेवन से गल गई होगी। खैर, अन्तरात्मा का भूत रहा होगा या उसके अवशेष। मुझे लगा कि कोई कह रहा है। 'कोरी गप्पें मारते हो, इसके सिवाय कुछ नहीं करते।' मैं इसको ज्यादा स्पष्ट शब्दो मे सुनता, उससे पहले चाय की प्याली आ गई और चाय पीने लग गया। इसी दौरान एक लहर आई। दिमाग से उठी होगी। लहर की गूंज कुछ इस प्रकार की थी। हिमालय के उस पार लोगो ने चूहे मारे, मक्खिया मारीं, मच्छर मारे और हिमालय के इस पार हम गप्पें मार रहे है। खैर, मारने का काम तो हिमालय के दोनों ओर हो रहा है पर मारने-मारने मे फर्क है और फर्क का कारण है—सांस्कृतिक पृष्ठभूमि। दो पृष्ठभूमियों के पीछे फर्क है जीवनदर्शन का।

"हिमालय के उस पार, जो मच्छर मार सकते हैं, मक्खिया मार सकते है, लाखो आदमियो को भी मच्छर और मक्खियों की तरह मार सकते है, बशर्ते कि यह जच जाए कि आदमी मच्छरो की तरह गन्दगी पैदा करते है। परन्तु हिमालय के इस पार, अहिंसा की पृष्ठभूमि मे पला हुआ जीवन अगर कोई चीज मार सकता है तो वह गप्प ही हो सकती है।"

सब लोग खिलखिलाकर हंस पड़े।

"गप्प मारने से हिंसा नहीं होती। यह है एक अहिंसक हिंसा।" एक टिप्पणी।

"इसीलिए भारतीय प्रतिभा के अनुकूल पड़ती हुई अगर कोई चीज है तो वह है केवल गप्पें मारना। हमारे पुरखे भी यही करते रहे। अष्टादश पुराण इस बात की साक्षी स्वरूप है।" मैंने टेर पूरी कर दी।

"आपने तो खूब खोजपूर्ण बात कही।" प्रोफेसर चतुर्वेदी की टिप्पणी।

"आज तो खोज ही खोज हो रही है। ऐसी खोजें जिनका पहले कोई खुरखोज ही न था। ताजमहल शाहजहां ने नहीं बनाया, मीरा के भजन मीरा के नहीं बल्कि उसकी ननद के हैं। परन्तु मेरी तो हकीकत-बयानी है। मुझे तो उस दिन के बाद कभी किसी अन्तरात्मा जैसी चीज ने तंग नहीं किया और मैं तो यही मानकर चलता हूं कि यही इस देश की 'जीनियस' है···।" मैंने बात पूरी भी नहीं की थी कि डाक्टर अग्रवाल बोल पड़े।

"कोई और चीज करे भी तो क्या करे, देश में स्कोप नहीं।"

"हो भी तो हम उस स्कोप को मिटा देंगे।" मैंने नया छर्रा छोड़ा।

"यह कैसे?" डाक्टर के चेहरे पर प्रश्नचिह्न बना हुआ दिखाई दे रहा था।

"काम की बातें तो कामसूत्र में रह गई। हमें काम से कुछ नहीं लेना।" मैंने उदासीनता के साथ बात कही।

"आप चाहे जो कहो, इस शाश्वत बेकारी के देश में काम है ही कहा?" डाक्टर ने भी उसी टोन में बात कही।

"देखो, डाक्टर साहब, पिछली रात भी हम इसी मुद्दे पर बात कर रहे थे। चलते-चलते बात रुकी भी इसी मुद्दे पर कि काम नहीं है। मुझे एक मजाक सूझा। मैंने कहा कि लोग पोल्ट्री फार्म खोलते हैं, मुर्ग-मुर्गियां पालते है परन्तु मेरी तो इच्छा है कि एक बिल्लियों का फार्म खोला जाए। बिल्लियों को ट्रेनिंग दी जाए। फिर एक घोषणा कर दी जाए कि जिन्हें चूहे तंग करते हैं, वे हमारी बिल्लियों की सेवा ले सकते हैं। सर्विस चार्जेज फकत दो रुपये चौबीस घण्टे के। अमरीकी सूचना के अनुसार इस देश में

चूहों की जनसख्या आदमियो से चार गुनी है और चूहे उतना ही धान खा जाते हैं जितना कि इस देश के आदमी । हर आदमी चूहो से तंग है । इस महंगाई के दौर में दो रुपये देकर हर कोई अनाज की रक्षा करना चाहेगा ।

"अगर सारे चूहे मर जाएं या चूहो की जनसख्या कन्ट्रोल मे आ जाए तो करोड़ों रुपयों की विदेशी मुद्रा की बचत हो सकती है । भिखारी की तरह दूसरे देशो से अनाज मांगने की जहमत से छुटकारा हो सकता है, वर्ना तो इस देश की हरित क्रांति को चूहे ही खा जाएंगे । इन सब चीजों को खयाल में रखते हुए बिल्ली-पालन के प्रोग्राम को राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाए तो देश की अर्थव्यवस्था ठीक हो सकती है । हर एक बेकार नौजवान अगर बिल्ली-पालन में लग जाए तो दिक्कत क्या है । बिल्लियों को फीड की आवश्यकता नही होगी । बिल्ली का फीड चूहा । यह सारी योजना व्यवहार्य है और इनमें फाइनेन्स की भी जरूरत नहीं । परन्तु कितने नौजवानो के दिमाग मे यह बात स्ट्राइक हुई ?"

"यह तो वस्तुतः क्रांतिकारी योजना है ।" सारी मजलिस बोल उठी ।

"आप तो बड़े भारी अर्थशास्त्री हैं, आपको मिनिस्टर बनाना चाहिए ।" डाक्टर ने सुझाव दिया ।

"मैं भी आपकी बात की ताइद करता हूं । मैंने भी अपना वोट अपने को ही दे दिया । पर एक गजब हो जाएगा…।" मुझे आगे की बात कहने नही दी ।

"वह क्या ?" डाक्टर की उत्सुकता जागी ।

"उस हालत में मैं आपको यहां नही मिलूंगा ।

"आप तो कोठी पर मिलेंगे ।" डाक्टर बोला

"वहा भी नहीं," मेरा जवाब था ।

"तो फिर आप कहां चले जाएगे ?" डाक्टर ने मेरी तरफ देखा ।

"मैं चला जाऊंगा गांधियाजी की जेब में ।"

एक बार फिर जोर का कहकहा लगा ।

कई कुत्ते कुत्तों की मौत नहीं मरते

मैं अखबार उठाता हूं। मैं रोटी खाने और अखबार पढ़ने में बड़ी जल्दी करता हूं। सटापट रोटी खा लेता हूं।

कई बार तो मेरी पत्नी बड़े ही मीठे शब्दों में बड़ी कड़वी बात कह देती है। कोई किसी को कहे कि तुम पिछले जन्म में कुत्ते थे तो उसका जवाब हाथापाई के सिवाय कुछ नहीं हो सकता, बशर्ते कि सुनने वालों में जरा भी स्वाभिमान हो। पर मैं यह बात कई बार सुन चुका हूं। शुरू में तो मैं चमका और गुर्राकर बोला कि *जैसा खाना जिस तरह से खिलाया* जाता है, उसको मैं खा लेता हूं, यही मेरा कुत्तापन है न! खैर, यह तो पुरानी बात हो गई। अब तो मैं इस तरह के रिमार्क और खाने सटासट निगल जाता हूं। खाना निगलता रहता हूं और साथ-साथ बात भी। चबाने से उसका कड़वापन जीभ को बरदाश्त नहीं। अचेतन में इसके पीछे कारण यही रहा हो कि जीभ अस्वादिष्ट खाने को हलक की तरफ धकेल देती हो। भोजन नली में से होता हुआ खाना गड़गड़ करता पेट में। खैर, *मेरा पेट मेरी जीभ से कहीं ज्यादा अच्छा है। मैं अपनी आदत का* शिकार। अखबार की खबरें भी इसी प्रकार निगलता हूं। न कभी चबाता ही हूं और न रस ही लेता हूं। हो सकता है कि खाना और खबरों में कोई स्वाद ले सके, ऐसी मेरी रसना न हो। मैं आदी, मेरा पेट आदी।

सब कुछ निगले जाने के बाद मैंने कई बार अकेले में सोचा कि कुत्ता इतनी जल्दी क्यों खाता है? क्या वह धीरे-धीरे चबाकर नहीं खा सकता? अगर ऐसा वह कर सकता होता तो उसकी आंतों को दिक्कत नहीं होती, कुत्ते का स्वास्थ्य ठीक रहता, दीर्घायु होता। परन्तु कुत्ता नासमझी से

बेमौत और असमय में मर जाता है। इसी वजह से कोई आदमी जब ढंग से नही मरता तो लोग कहते है कि कुत्ते की मौत मर गया। लोग जीने में कला ढूढ़ते हैं। लोग 'लाइफ स्टाइल' की बात करते हैं। परन्तु कुत्तों की तो एक ही मरण-शैली होती है—'डेथ स्टाइल' जिसको वे बड़ी खूबी से जानते हैं। हर 'माइन्यूट डिटेल' का शायद वे इतना बखूबी पालन करते हैं कि उनका एक ट्रेड मार्क हो गया, एक पेटेंट बन गया। यह पेटेंट मशहूर भी इतना कि बहुत सारे आदमी भी आजकल इस पैटर्न पर मरते है। सहानुभूति मे दो शब्द कहने का भी एक ढर्रा प्रचलित हो गया: आदमी तो बहुत अच्छा था, नेक था परन्तु हालात ने इस प्रकार मजबूरिया थोपी कि बेचारा कुत्ते की मौत मरा। इस तरह की संवेदनाओ तथा शोक-सन्देशो के बीच बहुत से लोग कुत्ते की मौत मरते हैं। मरने वालो की संख्या भी खूब बढ गई जैसे कि मरने का भी कोई नया फैशन चल पड़ा हो। अलबत्ता यह बात जरूर है कि 'हॉट डॉग्ज' खाने वाले लोग इस प्रकार की मौत मरते कम देखे गये।

रात्रि मे ज्योंही कुछ कुत्ते जरा जोर से 'हू-हू' करने लगते हैं तो मेरी पत्नी को बडी चिन्ता होती है। अगर मैं सोया हुआ भी होऊं तो भी वह मुझे जगाकर कहेगी। "देखो तो सही, कुत्ते रो रहे हैं, कोई बड़ा आदमी मरने वाला है।" मैंने उसे कई बार समझाया कि जब कोई बड़ा आदमी मरता है तो कुत्ते नही रोया करते, उसके रोने के लिए बहुत सारे लोग होते हैं। सारा देश रोता है, झण्डे झुक जाते हैं, रेडियो पर चलते प्रोग्राम रुक जाते है, नये प्रोग्राम शुरू हो जाते हैं, मातम की धुनें बजने लगती हैं। इसलिए जब कुत्ते रोते हैं तो समझ लो कि बड़ा आदमी तो नहीं मरेगा। तुम्हारी आशंका बेबुनियाद है।

"कोई बहुत बड़ा आदमी न सही, छोटा-मोटा नगर-स्तर का आदमी हो सकता है, आखिर इतने सारे कुत्ते बेमतलब थोड़े ही रोते हैं! रात को ऐसे बेवक्त पर। जरा सोचो, कोई न कोई कारण तो होगा ही।" मेरी पत्नी भी जिद पकड़ लेती है।

मेरी पत्नी मे एक भारतीय नारी के सभी गुण हैं। उनकी फेहरिस्त बनाना तो मुमकिन नहीं। उसमें तो गुण ही गुण हैं सिवाय दो छोटे-से

नगण्य अवगुणों के—हिये में उपजे नहीं, कहना किसी का माने नहीं। परन्तु यह दुर्गुण रहे नहीं, जैसे कि बीड़ी पीना, पान खाना। मुझे उसके ये तथाकथित दुर्गुण खले भी नहीं, परन्तु आज उसकी जिद ऐसी लगी कि जैसे कि मेरी कलाई मरोडी जा रही है। मुझे झुंझलाहट आई। मैं बोला—

"तुम तो इस तरह से पूछ रही हो जैसे कुत्तों ने मुझसे सलाह करने के बाद ही रोना-चिल्लाना शुरू किया हो। आदमी के मरने से तो उसके घरवाले रोते हैं, उसके रिश्तेदार रोते हैं। कई आदमी कर्जदार मर जाते हैं तो उनके पीछे वे रोते हैं जिनके रुपये डूबे। किसी सेठ का दिवाला निकल जाए और वह मर जाए तो उसके पीछे से वे सब लोग रोते हैं जिनके रुपये डूब गए। परन्तु कुत्ते आदमी के लिए किस रिश्ते के नाते रोयें, मेरे समझ में आने वाली बात नहीं है, उनकी अपनी ही बात होगी।" मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी।

"पर देखो, ये कुत्ते अब भी रो रहे हैं। मुझे डर लग रहा है, यह कुत्तों का रोना बहुत ही अमंगलसूचक है। जनता में सुख-शांति नहीं रहेगी," उसने अपनी रट को नई शब्दावली दे दी।

"क्या होता है रोने से ! सारी जनता रो रही है, सिर धुन रही है, कि चीजें मिलती नहीं, कीमतें बढ़ रही है। इतने सारे जुलूस, इतना सारा शोर-शराबा। मगर क्या असर हुआ कहीं ? कोई चीज रुकी कहीं ? कोई हुआ वज्राघात कहीं ? सारा देश रो रहा है और जनता चिल्ला रही है—त्राहि माम् त्राहि माम्। परन्तु कहीं जू भी रेंगी ? मगर चन्द कुत्ते रोते हैं तो कयामत आ जाएगी, प्रलय मच जाएगी, यह है तुम्हारा सोचना। कुत्ते रोते हैं तो रोयें मैं तो उनके पास जाने से रहा और न अनुनय-विनय करूंगा कि तुम रोना बंद कर दो। अगर कुत्तों में जरा भी समझ होगी तो उनकी समझ में यह बात आ जानी चाहिए कि इस देश में रोने से या भौंकने से कोई चौंकने वाला नहीं है।" मैंने अपनी तरफ से डांट पिला दी।

मेरी पत्नी को मेरा डांटना भी भौंकना ही लगा हो। वह चुप। थोड़ी देर बाद कुत्ते भी रोने से रुक गए।

इन कुत्तों की वजह से मेरी नींद हराम हो गई। मैंने लिहाफ खींच

लिया और मैं ऐसा अनुभव करने लगा कि मैं एक कैपसूल में बन्द हो गया हूं। मेरा कुत्तों तथा अपनी पत्नी से सम्पर्क सूत्र कट गया। मैं सोचने लगता हूं।

कुत्ते क्यों रोते है? आदमी क्यों और कब रोता है, यह तो समझ में आता है, परन्तु ये क्यों रोते है? मैं ज्यों ही इस विषय पर सोचने लगता हूं तो समाधान तो नही मिलता और पुराना सवाल पुराने कर्जे की तरह रिन्यू हो जाता है।

कुत्ता जल्दी क्यो खाता है? डरता आदमी जल्दबाजी करता है, हो सकता है कि कुत्ता भी डरता हो? डरता हुआ जल्दबाजी करता है, यह तो तथ्य है पर कुत्ता किससे डरता होगा? मैं सोचने लगता हूं।

डरता आदमी लड़ता है, यह तो मेरा अनुभव है।

आदमी आदमी से डरता है अतः आदमी आदमी से लड़ता है।

कुत्ता कुत्ते से डरता है अतः कुत्ता कुत्ते से लड़ता है। यह तो समझ में आई हुई बात है। यही नहीं, भेड भेड से लड़ती है। गाय से गाय लड़ती है। लिहाफ के अन्दर मैं देखता हू कि भैंस से भैंस लड़ती है, मुर्गे से मुर्गा और तो और शाति का प्रतीक कबूतर से कबूतर लड़ता है। चोंच भिड़ाता है। मैंने कईबार शाति के मसीहाओं को अपने कमरे में कुश्ती करते हुए देखा है। चोंचो से चोंचे लड़ाते हुए, पंखो की फड़फड़ाहट करते हुए। मैंने बीच-बचाव के दौरान देखा कि लड़ाई का मुद्दा या तो कुछ दाने होते है या कोई कबूतरी। फिर बेचारे कुत्ते ही बदनाम क्यो? कोई दूसरा कुत्ता न खा जाए इसलिए कुत्ता जल्दी-जल्दी खाता है। कुत्ता दरियादिली दिखाए तो किस बूते पर? कुत्ता भी लड़ता है, पर वे ही दो मुद्दे, रोटी का टुकड़ा, या हड्डी का टुकड़ा, या कोई कुतिया।

कुत्ते रोते क्यो हैं? सवाल सुलझाने से पहले नींद आ जाती है।

सुबह उठता हूं तो देखता हूं कि कैकेयी तो अभी तक कोप-भवन से बाहर ही नहीं निकली है।

कुत्तों ने पति-पत्नी के बीच दरार डाल दी है। मैं इस विडम्बना पर विचार करने लगता हूं।

मैं सुबह का अखबार लेकर बैठ जाता हूं। चाय की प्याली पास में।

लबरेज। चाय खतम होने के पहले अखबार निगल जाता है। अखबार निगल जाने के बाद एक पत्रिका के पन्ने पलटने लगता हूं। यकायक मेरी भागती हुई आंखों में अटक जाती हैं कुछ पंक्तियां।

'कुत्तों का राजसी जीवन जिसके लिए इन्सान रश्क करे...'

कोई कुत्ते-पालन का फार्म है। आला नस्ल के कुत्ते। उनके बच्चों का पालन-पोषण होता है। वातानुकूलित कमरों में।

मैं कुछ चित्र देखने लगता हूं। छोटे-छोटे पिल्ले, फोम के गद्दों पर। नौकर-चाकर सेवा में। ओढ़ने को रजाइयां, खाने-पीने को पौष्टिक आहार। डाक्टरों की पूरी देख-रेख।

मैं पूरा विवरण पढ़ने लगता हूं। इन पिल्लों की परवरिश जिस राजसी ढंग से की जाती है, उसे देखकर तो हर आदमी की इच्छा होने लगती है कि काश! इस मनुष्य-योनि के बजाय तो इन कुत्तों जैसी कोई योनि मिली हुई होती तो कितना अच्छा रहता।

मनुष्य-योनि भी श्वान-योनि के सामने झख मारती है।

पत्रिका रख देता हूं।

ये कुत्ते के बच्चे। उन्होंने पिछले जन्म में महान तपस्या की होगी।

ये कुत्ते बड़े मेधावी है। कुत्तों के इतिहास में भी कई शानदार पृष्ठ हैं। सारे कुत्ते मेधावी ही रहे हों, ऐसी बात नहीं। गजब की किस्मत भी पायी बहुतों ने। मेरी स्मृति में कई कुत्ते उभरते हैं। एलीजाबेथ टेलर का नामी कुत्ता जिसकी शादी मे इतना खर्च हुआ कि उसकी शादी के सामने राजकुमारी ऐन की शादी फीकी लगती है। उसकी शादी का वह जश्न मनाया गया कि कुछ कहा नहीं जा सकता। क्या कमाल की किस्मत पायी है उस कुतिया ने, जिससे एलिजाबेथ का कुत्ता युग्म होने जा रहा है।

कहते है कि एक श्वान-प्रदर्शिनी मे लीजो का कुत्ता प्रदर्शित हुआ तो लाखों मेमें उमड पडी उस कुत्ते को चूमने के लिए। मालिक ने देखा कि ये मेमें कुत्ते को चुम्बन के बहाने चाट जाएगी। कुत्ते के चुम्बन की फीस लगाई गई। जब एक चुम्बन की फीस दस डालर रखी गई तो हजारों मेमों के हाथ अपने पर्सों की रस्सियां ढीली करने लग गए। लीजो फिर घबराई फीस बढ़ाकर सौ डालर फी चुम्बन कर दी गई तो भी दस मेमें मैदान से

नहीं हटी।

यह भी किस्मत है कुत्ते की। कोई प्रिन्स चार्मिंग क्या करे! ऐसा कुत्ता कौन-सी मौत मरेगा, क्या कोई ज्योतिषी बतला सकता है?

यह तो एक ही पृष्ठ है। कुत्तों के इतिहास में ऐसे कई स्वर्णिम पृष्ठ हैं। जूनागढ़ के नवाब साहब को इतिहासकार चाहे किसी तरह याद करे, परन्तु जब कोई कुत्तों का इतिहास लिखेगा तो उसके ऐतिहासिक क्रिया-कलापों को नजरअन्दाज नहीं कर सकता। उसके राज्यकाल में कुत्तों की शादी के शुभ अवसर पर राजकीय कार्यालयों में अवकाश रहा। दूल्हा बना हुआ कुत्ता जब बैण्ड-बाजों के साथ जूनागढ़ की सड़कों से गुजरा होगा तो दर्शकों ने उस कुत्ते के भाग्य की सराहना की होगी। और कितनी ही देवियों ने उस भाग्यशालिनी कुतिया की तुलना में अपने-आपको हेय समझा होगा। अगर चॉयस का सवाल होता तो बहुत मुमकिन है, बहुत सारी देवियां अपने संचित पुण्यकर्म और कौमार्य का अर्घ्य देकर भी इस प्रकार की कुतिया बनने में अपना अहोभाग्य समझतीं।

अगर ये कुत्ते हैं तो उनका जीना और मरना भी बहुत कुछ ऐसा है जो मनुष्य को नसीब नहीं होता।

कई कुत्तों ने कई लड़ाइयों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सरकारी तौर पर इनकी सेवाओं का उल्लेख किया गया।

सारी बातों से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि सब कुत्ते एक-से नहीं होते। कुत्तों में भी वर्ण-व्यवस्था होती है। कई कुत्ते कुलीन होते हैं। इसकी जानकारी लोगों को नहीं है। यही एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। कुत्ता धर्म का रूप होता है। यह तो धर्मराज ने भी माना है। कुत्ता और धर्म साथ जाते हैं, बाकी सब पीछे छूट जाते हैं।

एक फ्रांसीसी राजकुमारी को तो आदमी नाम से इतनी चिढ़ हो गई थी कि वह तो कुत्तों की जाति पर ही फिदा थी।

कुत्ता और आदमी के गुणावगुणों की तुलना की गई तो सभी लोग एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे—

कुत्ता आदमी की हर ट्रिक सीख सकता है सिवाय एक चीज के। उसे खिलाने वाले हाथ को कटाने की 'ट्रिक' नहीं आती। लोगों ने खूब सरपच्ची

करके देखा। आदमी का इसमें कोई सानी नहीं।

कुत्ते की जाति जिस दिन लोप हुई, वफादारी नाम की चीज भी लोप हुई। यह एक भविष्यवाणी है।

मैं एक आन्तरिक खुशी अनुभव करता हूं। मेरी आज तक की धारणा बदल जाती है। न कुत्ता हेय और न कुत्तों की तरह मरना व जीना। इन सब चीजों के बावजूद मेरी पत्नी का प्रश्न एक 'आउटस्टैंडिंग प्रबलेम' की तरह खड़ा है।

कुत्ते क्यों रोते हैं? क्यों चिल्लाते हैं? सवाल सरल करने के लिए मैं एक सवाल उठाता हूं—आदमी भी तो रोते हैं? वे क्यों चिल्लाते हैं? आदमी तो देवता बनने का दम भरता है। आदमी का तो रोना शायद यह है कि आदमी और आदमी के बीच भेदभाव क्यों? रंगभेद क्यों? सब आदमी बराबर है तो कुलीनता का फिर आधार क्या?

शायद यही बातें कुत्तों के दिमाग में हों तो। आखिर आदमी और कुत्ते में कोई मूलभूत फर्क तो है नहीं। सब कुत्ते बराबर हैं, क्या साहब का, क्या सड़क छाप।

अलसेशियन, टेरियर, पोमेरियन वगैरह जाति-भेद बेमानी है। हो सकता है सड़क के कुत्तों ने रात में सलाह कर ली हो। और उन्होंने अपने विरोध के स्वर को रव दिया हो। सीधे कार्यवाही की बात चल रही हो। मगर मेरी पत्नी समझती है, कुत्ते रोते हैं। रोष के स्वर को रोने-धोने के सिवाय और कोई संज्ञा नहीं देते। मेरी समझ में बात आ गई।

मैंने उसे आवाज दी—आओ, तुम्हें समझाऊं कुत्ते क्यों रोते हैं।

उसने मेरी तरफ देखा, मुझे लगा कि वह गुर्राएगी।

इसी बीच गली में कुत्ते फिर भौंकने लगे। ऐन वक्त पर कुत्तों ने बनी बात बिगाड़ दी। कुत्तों का यही दोष है। समझौता नहीं करने देते।

नाम में क्या धरा है

नोपा ने चाय लाकर रख दी और चुपचाप खड़ा हो गया, शायद इस अंदाज से कि शायद वह अपनी बात कहने के लिए किसी उपयुक्त अवसर की ताक में हो।

"और महाराज !" मैंने चाय की प्याली उठाते हुए कहा।

नोपा एक चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, जिसके रिटायरमेंट मे कुछ ही महीने बाकी रह गये हैं। सभी लोग उसे महाराज के नाम से सम्बोधित करते हैं। ऋषियो की सन्तान नोपा आज की सरकारी चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अनुसार शूद्र हो गया। पाण्डित्य और विद्वत्ता कौन-सी पीढी में नोपा परिवार से मुख मोडकर चले गये, पता नही, परन्तु 'महाराज' की पुश्तैनी टाइटल उससे छीनी नही गई, जबकि बड़े-बड़े महाराजा लुप्त हो गये और एकमात्र बचा हुआ महाराजा एअर-इडिया में व्योम-परिचारिकाओं के साथ मजे कर रहा है और आसमान में उडता रहता है। महान पूर्वजो के वशज होने के गौरव की अनुभूति भी उसे यदा-कदा होती रहती है जब श्राद्ध-पक्ष मे या अमावस-पूनम के रोज उसे खाने का आमंत्रण मिल जाता है। साथ में दक्षिणा भी। खैर, कुछ भी समझो, लखनऊ के तागे चलाने वाले नवाबजादों से तो नोपा महाराज का इतिहास किसी भी माने मे घटिया नहीं है।

"तो, साहब, मेरे लड़के का क्या किया? आपकी तो जरा-सी जुबान हिली और हमारा भला हो गया। आजाद हिन्दुस्तान में 'आई०ए०एस०' बनना आसान है, परन्तु एक चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी बनना टेढ़ी खीर है। पंचवर्षीय योजनाओं के लिए साधन जुटाने के लिहाज से सरकार के लिए

चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के पद के सृजन पर रोक लगाना आवश्यक हो गया था। ऐसी हालत में योग्यता के आधार पर पद पर नियुक्ति होना असंभव है। लोग इसके लिए मिनिस्टरों की चिट्ठियां जेब में डाले हुए घूमते हैं। फिर ऊपर से टेलीफोन अलग।" नोपा ने नपे-तुले शब्दों में निवेदन किया।

"कैसा है तुम्हारा लड़का? तुमने पूरी बात तो बताई ही नहीं थी।" मैंने चाय की चुस्की लेते हुए कहा।

"कैसा है, समझ लीजिए अरजन जैसा ही फरजन होगा।" नोपा ने मुस्कराहट के साथ बात को आगे खींचा।

यह कहावत तो मैंने बचपन में तथा बाद में भी बहुत बार सुनी थी, परन्तु आज तक मेरी समझ में नहीं आई कि यह 'फरजन' कौन था। चलो, 'अरजन' तो अर्जुन ही होगा। महान पांडव का अपभ्रंश रूप, परन्तु यह फरजन कौन था, समझ में नहीं आया। इस पर कई बार सोचा भी कि फरजन महाभारत के कौन से पात्र का नाम हो सकता है। कुछ अर्से बाद बात मैं भूल पड़ गई। परन्तु नोपा के मुंह से आज जब यह बात सुनी तो बात का मुद्दा तो भूल गया और पूछ बैठा…

"महाराज, यह फरजन कौन था?"

"यह तो आपको मालूम होगा। पढ़े-लिखे तो आप हैं। पढ़ा-लिखा आदमी ही बात का खुर-खोज निकाल सकता है, कहीं आंटा हो तो सुलझा सकता है। मैं जाति का ब्राह्मण हूं मगर पूरा अंगूठाछाप, एक चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी। मेरे पूर्वजों के हाथ में कलम रही होगी पर मेरे हाथ में है झाड़ू। मैंने तो बात सुन रखी थी, सुनी-सुनाई बात आपको सुना दी। आप जानें अरजन और फरजन में क्या रिश्ता होगा। मेरी मोटी अकल में तो कोई नजदीकी रिश्ता होना ही चाहिए।"

नोपा ने एक सटीक व्याख्या कर दी।

"बात को समझना चाहिए ठेठ उसकी जड़ में जाकर। ऐसे कैसे कोई बात कह दे। तमाशा थोड़े ही है, महाराज!" मैंने एक खास लहजे में बात कही।

"तब तो हम जैसे लोगों का जीना मुश्किल हो जाएगा," नोपा

बोला।

"किस तरह ?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"यह इस तरह," नोपा ने कहना शुरू किया, "अगर आप मुझसे पूछने लगे कि नोपा का क्या मतलब हुआ ? आपके हिसाब से तो सीधा-सा मतलब यह हुआ कि जब मेरा नाम नोपा है तो मुझे नोपा शब्द का अर्थ भी मालूम होना चाहिए।"

"इसमे दो राय थोडी ही हैं। नाम तो सोच-समझकर ही रखा जाता है।" मैंने राय दे दी।

"बिल्कुल गलत साहब, माफ करना। नाम कभी समझकर नही रखे जाते। नाम रखे जाते हैं देखकर या देखा-देखी में। अगर समझकर या सरकारी सहमति से नाम रखने की शर्त लगा दी जाए तो बडी गड़बड़ हो सकती है। यह तो सरकार की बड़ी मेहरबानी है कि नाम रखने के बाबत कोई कानून सरकारी नही बना, वर्ना बहुत सारे लोग बिना नाम ही राशन की दुकानो पर भटकते फिरते। नाम नही तो राशन कार्ड नहीं, राशन कार्ड नही तो अनाज नही। नतीजा यह होता कि बहुत सारे लोग अनाम ही दुनिया मे ठोकरें खाकर भूखे-प्यासे चल पड़ते और मुश्किल हो जाती घरवालो को। मरने वालों को कोई रोये भी तो क्या नाम लेकर ? सरकार ने सोचा जरूर होगा। जो सरकार बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर सकती है, नामों का भी राष्ट्रीयकरण कर सकती थी।" नोपा हंस पड़ा।

"वाह महाराज, वाह ! कुछ भी कहो तुम्हारी बात जची नही।"

मैंने खाली कप मेज पर रख दी।

"पढ़े-लिखे आदमियो को अनपढ़ों की बात कब जंची है ? पर मैं एक बात कहता हूं, आप गौर करें। मेरे दो लड़के हैं—बरकत और रामदीन। मेरा खुद का नाम नोपा है, आप जानते ही हैं। चलो, मेरा नाम तो मेरे मां-बाप ने रख दिया, परन्तु मेरे लड़कों के नाम तो मैंने रखे हैं। मुझसे चाहे जिसकी कसम चकवा लो, मुझे पता नही इनका अर्थ क्या है। मुझे तो नाम रखने थे सो रख दिए, पर मैंने नाम रखे देखकर, देखा-देखी से। हमारे यहा एक थानेदार थे भूरे खां जी। बड़े ही भले, गरीबों के दास। लोग आज भी उन्हें याद करते है कि भूरे खां जी जैसा इन्सान नहीं

मुझे वे अपने परिवार का सदस्य मानते थे। मेरा उनके यहां खूब आना-जाना था। उनके बड़े लड़के का नाम था बरकत और छोटे का दीनू। दोनों ही लड़के हू-ब-हू अपने बाप की तरह बड़े ही शरीफ और सलीके वाले। सभी लोगों मे तारीफ भी खूब थी। उनका कहना था, अरजन जैसा फरजन।

"जब मेरे यहा लडका हुआ, तो मैंने समझा कि हमारे यहा भी बरकत आ गया। हम भी उसे बरकत कहने लगे। एक बरकत भूरेखां जी के यहा, तो एक बरकत हमारे घर में। उसके कान में भी यही फूंक दी गई कि वह बरकत के नाम से ही सोया हुआ जागेगा। जब मैं उसे स्कूल मे ले गया तो उसका नाम हो गया बरकतराम वल्द नोपा। भूरेखांजी का बरकत बन गया था बरकतुल्ला वल्द भूरेखां। अल्लाह और राम में क्या, फर्क है। कोई उसे अल्लाह कहकर याद करे तो कोई राम कहकर। बरकतुल्लाह और बरकतराम मे फिर फर्क क्या हुआ। उनके यहा अल्लाह बरकत करता है तो अपने यहा राम। खैर, जब दूसरा लड़का हुआ तो लोग बोले, 'अब क्या नाम रखोगे?' मैंने कहा, 'दीनू।' हम उसे दीनू कहकर पुकारने लगे। जब उसे स्कूल मे भर्ती कराया गया तो रजिस्टर मे नाम लिखा गया रामदीन। और भूरेखा जी के लड़के का नाम लिखा गया अलादीन। घर का दीनू जब बाहर जाकर अपना रूप छेटता है तो वह हिन्दू पानी और मुस्लिम पानी की तरह हिन्दू संस्करण मे रामदीन हो जाता है और मुस्लिम संस्करण मे अलादीन।"

मुझे एक आश्चर्य हुआ। काश! नोपा महाराज समझता होता कि अनजान में इतना बड़ा व्यंग्य कर रहा है। काश! वह समझता होता कि वह क्या कर रहा है। मैं सोचने के लिए मजबूर हो जाता हूं कि अगर अलादीन और रामदीन मे कोई फर्क नही तो अब्दुल्ला का मतलब भी तो भगवानदास ही है। इनायतुल्ला भगवानप्रसाद ही है। पर कौन जायेगा इस की तह तक! एक इन्शा अल्ला कहकर छोड़ देगा तो दूसरा हरी इच्छा। इसमें आगे सोचने की कोशिश कोई नही करता।

मुझे लगा कि नोपा की सीधी-सीधी बात मे मेरे लिए व्यग्य है। मेरे से ज्यादा उन लोगों के लिए करारी चपेट है जो तीन और छः की स्थिति

में बैठकर विभिन्न सम्प्रदायो मे सौहार्द की बात करते हैं। सबसे बडा व्यंग्य तो उन लोगो के लिए है जो 'नेशनल इमोशनल इंटीग्रेशन को उन्सिल' के सदस्यों की हैसियत से श्रीनगर जैसे ठण्डे स्थानों पर मिलते है। ठण्डे स्थानों पर गर्मागरम बहस करते हैं, कुछ प्रस्ताव पास करते हैं तथा बड़े लम्बे-चौड़े यात्रा-भत्ता लेते हैं।

मैं शायद कितनी देर तक उधेड़बुन में बैठा रहता, अगर नोपा महाराज ने मेरी ध्यानावस्था न तोड़ दी होती।

"तो, अब तो आप मेरे फरजन का ख्याल करिए। मैं तो 'घाणी' का बूढ़ा बैल हूं जिसने अट्ठावन चक्कर काट लिये, आखो पर पट्टी बांधे हुए।" नोपा ने विदोद को घुट देने की कोशिश की।

"फिर वही फरजन। यह फरजन नही फर्जन्द हैं, खास फारसी का शब्द और तुम चिल्लाये जा रहे हो फरजन-फरजन।" मैंने एक वैयाकरण की तरह बात की।

"क्या फर्क पड़ता है। राम-राम कहो या मरा-मरा, भाव शुद्ध होना चाहिए।" नोपा ने एक सफाई पेश की।

"नही महाराज, हर शब्द का अर्थ होता है, उसका मतलब होता है।" मैं अपनी बात पर डट गया।

"तो फिर मेरे नाम का भी अर्थ होगा?" नोपा ने मेरी तरफ देखा।

"होगा क्यों नही। कोई शब्द निरर्थक नही होता।"

"तो फिर मेरे नाम का ही अर्थ बताइए। अट्ठावन साल से यह नाम मेरे से चिपका हुआ है, एक भूत की तरह, पर मैंने यह कभी नहीं सोचा कि मेरे नाम का भी कोई अर्थ होगा। यह तो एक बन्द कमरे की तरह से रहा जिसे मैंने कभी खोला नहीं। एक बन्द गठरी जिसे मैं ढोता तो रहा पर यह देखने की कोशिश कभी नही की कि इस पिटारे मे क्या है? मैंने तो आज तक यही समझा था कि नाम एक नकेल है, लगाम है, एक तरह का जुआ है। ऊंट के लिए नकेल एक इशारा है। घोड़े के लिए लगाम, वैसे ही आदमी के लिए नाम। एक इशारा हुआ, नकेल खीची कि ऊंट ठहर गया। लगाम खीची कि घोड़ा ठहर गया। किसी ने आवाज लगाई, 'नोपा महाराज' और मैं ठहर गया। पर जब आप कहते हैं कि नोपा का भी अर्थ

मुझे वे अपने परिवार का सदस्य मानते थे। मेरा उनके यहां खूब आना-जाना था। उनके बड़े लड़के का नाम था बरकत और छोटे का दीनू। दोनों ही लडके हू-ब-हू अपने बाप की तरह बड़े ही शरीफ और सलीके वाले। सभी लोगो मे तारीफ भी खूब थी। उनका कहना था, अरजन जैसा फरजन।

"जब मेरे यहा लड़का हुआ, तो मैंने समझा कि हमारे यहां भी बरकत आ गया। हम भी उसे बरकत कहने लगे। एक बरकत भूरेखां जी के यहा, तो एक बरकत हमारे घर मे। उसके कान मे भी यही फूक दी गई कि वह बरकत के नाम से ही सोया हुआ जागेगा। जब मैं उसे स्कूल मे ले गया तो उसका नाम हो गया बरकतराम वल्द नोपा। भूरेखांजी का बरकत बन गया था बरकतुल्ला वल्द भूरेखां। अल्लाह और राम मे क्या, फर्क है! कोई उसे अल्लाह कहकर याद करे तो कोई राम कहकर। बरकतुल्लाह और बरकतराम मे फिर फर्क क्या हुआ। उनके यहां अल्लाह बरकत करता है तो अपने यहां राम। खैर, जब दूसरा लड़का हुआ तो लोग बोले, 'अब क्या नाम रखोगे?' मैंने कहा, 'दीनू।' हम उसे दीनू कहकर पुकारने लगे। जब उसे स्कूल मे भर्ती कराया गया तो रजिस्टर मे नाम लिखा गया रामदीन। और भूरेखा जी के लडके का नाम लिखा गया अलादीन। घर का दीनू जब बाहर जाकर अपना रूप छंटता है तो वह हिन्दू पानी और मुस्लिम पानी की तरह हिन्दू सस्करण मे रामदीन हो जाता है और मुस्लिम सस्करण मे अलादीन।"

मुझे एक आश्चर्य हुआ। काश! नोपा महाराज समझता होता कि अनजान में इतना बड़ा व्यग्य कर रहा है। काश! वह समझता होता कि वह क्या कर रहा है। मैं सोचने के लिए मजबूर हो जाता हूं कि अगर अलादीन और रामदीन मे कोई फर्क नही तो अब्दुल्ला का मतलब भी तो भगवानदास ही है। इनायतुल्ला भगवानप्रसाद ही है। पर कौन जायेगा इस की तह तक! एक इन्शा अल्ला कहकर छोड़ देगा तो दूसरा हरी इच्छा। इसमें आगे सोचने की कोशिश कोई नही करता।

मुझे लगा कि नोपा की सीधी-सीधी बात मे मेरे लिए व्यंग्य है। मेरे से ज्यादा उन लोगों के लिए करारी चपेट है जो तीन और छः की स्थिति

में बैठकर विभिन्न सम्प्रदायों में सौहार्द की बात करते हैं। सबसे बड़ा व्यंग्य तो उन लोगो के लिए है जो 'नेशनल इमोशनल इंटीग्रेशन को उन्सिल' के सदस्यों की हैसियत से श्रीनगर जैसे ठण्डे स्थानो पर मिलते है। ठण्डे स्थानो पर गर्मागरम बहस करते है, कुछ प्रस्ताव पास करते हैं तथा बड़े लम्बे-चौड़े यात्रा-भत्ता लेते हैं।

मैं शायद कितनी देर तक उधेडबुन में बैठा रहता, अगर नोपा महाराज ने मेरी ध्यानावस्था न तोड़ दी होती।

"तो, अब तो आप मेरे फरजन का ख्याल करिए। मैं तो 'घाणी' का बूढा बैल हूं जिसने अट्ठावन चक्कर काट लिये, आंखो पर पट्टी बांधे हुए।" नोपा ने विदोद को पुट देने की कोशिश की।

"फिर वही फरजन। यह फरजन नहीं फर्जन्द है, खास फारसी का शब्द और तुम चिल्लाये जा रहे हो फरजन-फरजन।" मैंने एक वैयाकरण की तरह बात की।

"क्या फर्क पडता है। राम-राम कहो या मरा-मरा, भाव शुद्ध होना चाहिए।" नोपा ने एक सफाई पेश की।

"नहीं महाराज, हर शब्द का अर्थ होता है, उसका मतलब होता है।" मैं अपनी बात पर डट गया।

"तो फिर मेरे नाम का भी अर्थ होगा ?" नोपा ने मेरी तरफ देखा।

"होगा क्यों नहीं। कोई शब्द निरर्थक नही होता।"

"तो फिर मेरे नाम का ही अर्थ बताइए। अट्ठावन साल से यह नाम मेरे से चिपका हुआ है, एक भूत की तरह, पर मैंने यह कभी नहीं सोचा कि मेरे नाम का भी कोई अर्थ होगा। यह तो एक बन्द कमरे की तरह से रहा जिसे मैंने कभी खोला नहीं। एक बन्द गठरी जिसे मैं ढोता तो रहा पर यह देखने की कोशिश कभी नहीं की कि इस पिटारे मे क्या है ? मैंने तो आज तक यही समझा था कि नाम एक नकेल है, लगाम है, एक तरह का जुआ है। ऊंट के लिए नकेल एक इशारा है। घोड़े के लिए लगाम, वैसे ही आदमी के लिए नाम। एक इशारा हुआ, नकेल खीची कि ऊंट ठहर गया। लगाम खीची कि घोड़ा ठहर गया। किसी ने आवाज लगाई, 'नोपा महाराज' और मैं ठहर गया। पर जब आप कहते हैं कि नोपा का भी अर्थ

होता है तो मेरी इच्छा होती है कि जानूं कि वह कौन-सा अर्थ है। मैंने नाम का बोझ ढोया, पर अर्थ की बात सोची ही नही। हां, तो फिर क्या अर्थ हुआ ?" नोपा की जिज्ञासा भड़क उठी।

"तुम्हारे नाम की सन्धि तोडनी पडेगी, नोप का मतलब हुआ न+उप यानी नोप या नोपा। इस हिसाब से नोपा का मतलब हुआ कि तुम्हारे जैसा कोई नही, यानी बेजोड, अनुपम, अद्वितीय, बेमिसाल, बेनजीर, फडदी, लासानी।" मैंने इतने सारे पर्यायवाची दे दिये जितने कि शायद अमरकोश मे भी नही दिये गए हों।

"मेरे छोटे-से नाम के इतने अर्थ हैं। अगर मेरे मां-बाप को इतने अर्थों का पता होता तो वे शायद इतना बड़ा बोझ वाला नाम मेरे सिर पर नहीं रखते। देखादेखी में गलत नाम धर दिया गया।" नोपा महाराज बोला।

"तुम बेजोड हो, महाराज!" मैं बोला।

"इसमें तो कोई शक नहीं। मैं इस माने में तो बेजोड़ हूं कि मेरे जितने बडे जूते किसी के नही आते। कोई कम्पनी मेरे माप के जूते नहीं बनाती। मोची से झगडा करके अगर जूते छोड दूं तो उसको ही रोना पड़े। अब तो जरा उमर का लिहाज आ जाता है वर्ना बिना पेशगी लिये कभी किसी मोची ने मेरे जूते नहीं बनाये। यह है मेरा रिकार्ड।" नोपा ने हंसी के साथ बात कही।

"यह तुम्हारे नाम का ही असर है।" मैंने भी एक तुक मिला दी।

"आप लोग पढे-लिखे हैं, आप लोगों के चार आंखें होती है। अभी कुछ दिन पहले एक हाथ की रेखा देखने वाला मिला और हाथ देखकर कहने लगा कि तुम्हारी भाग्यरेखा जोरदार है। मुझे अन्दर ही अन्दर हंसी आने लगी और अन्त में मुझसे रहा न गया और कह ही दिया कि मेरी भाग्यरेखा तो जोरदार तब मानूं जबकि मेरी झाड़ू सोने की हो जाये, वर्ना तो रोज झाड़ू लगाने वाला तकदीर को भी झाड़-पोंछकर रख देता है। यह भी देखो तो सही कि इस झाड़ू की तकदीर में भी सोने का होना लिखा है कि नही। हस्तरेखा देखने वाला सज्जन फिर से मेरा हाथ देखने लगा। रेखाओं मे तथा रेखाओं के बीच छुपी हुई तकदीर देखने लगा और देर बाद बोला कि अच्छी भाग्यरेखा के बावजूद हथेली के बीचो-

बीच एक खड्डा है और तकदीर जाकर खड्डे में पड़ गई। मुझे उसकी बात जम गई। हथेली के खड्डे के अलावा और भी खड्डे हैं जिन्हें भरने की मैंने कोशिश की, जिन्दगी-भर। पर खड्डे तो नहीं भरे और अब तो गालों में भी खड्डे और पड़ गये।" नोपा महाराज का स्वर गम्भीर हो गया।

"महाराज। तुम्हारा नाम तो जोरदार है, यह मैं कहता हूं।"

"नाम में क्या धरा है। नाम मे कोई बारूद होता तो कभी का पटाखा चल गया होता जो आज तक असर नहीं दिखा सका, अब क्या होना है?"

"महाराज, तुम्हारी बात को तो शेक्सपियर ने भी कहा है, जब उसने कहा कि नाम मे क्या धरा है, गुलाब को चाहे जिस किसी नाम से भी पुकारो, गुलाब तो गुलाब ही रहेगा, सुगन्ध देता रहेगा…"

मैंने बात पूरी भी नहीं की थी कि नोपा महाराज जोर से हंसने लगा। मुझे लगा कि नोपा कहीं पागल तो नहीं हो गया है। उसके दिमाग पर एक प्रेशर तो था ही। मैं उसके चेहरे की ओर देखने लगा।

"महाराज, ऐसा क्या मिल गया जो इस तरह से हंसने लग गये।" मैंने कहा।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।" नोपा ने हंसी रोकने की कोशिश की।

"ऐसे नहीं, महाराज, बात बताओ।" मेरा आग्रह जारी था।

"आप कह रहे थे कि हर शब्द में एक अर्थ होता है। नाम में भी अर्थ होता है और इसी बीच शेक्शपियर कूदकर आ धमका और कह दिया कि नाम मे क्या धरा है। यानी पहले वाली बात तो हो गई 'काता कूता कपास'। पढ़े-लिखे लोगों की बातें इसीलिए तो अनपढ़ों की समझ में नहीं आती। घोड़ा और गदहा दोनों तैयार रखते हैं। पता नहीं किस समय किसको किसपर बैठा दिया जाये।"

मैं नोपा महाराज की आंखों में देखने की कोशिश करने लगा, परन्तु महाराजने आंखें नीचे की और बाहर निकल गया।

मैंने नोपा को कमरे में झाड़ू लगाते हुए बहुत बार देखा है। वह झाड़ू से समेटता हुआ कूड़े-कचरे को एक जगह इकट्ठा कर लेता है। सारा कूड़ा-करकट सिमटकर एक जगह आ जाता है।

मुझे आज ऐसे लगा कि उसने आज वह झाड़ू कमरे के बजाय मेरे दिमाग में लगा दिया। कमरे की तरह दिमाग में कूड़ा-कचरा होता है जिसको नोपा महाराज ने ढेरी कर दिया। अब इसको फेंकेगा कौन? मैं या महाराज। मैंने आवाज लगाई, "महाराज, महाराज !"

"महाराज तो पान लाने बाजार गया है," चौकीदार अब्दुल्ला बोला।

"ठीक।" मेरे मुह से निकल गया।

पता नही, क्या सोचकर मैं छत की तरफ देखने लग गया। शायद छत पर कुछ लिखा हुआ हो।

बिल्ली ने आत्महत्या कर ली

हमने एक बिल्ली पाली। देखा जाए तो सयोग ही ऐसा बैठा कि हमें बिल्ली पालनी पड़ी। संयोग ही सब करवा देता है जिसे बडे-बड़े ज्योतिषी भी मानते हैं।

एक दिन एक बिल्ली की बच्ची हमारे घर आ गई। उसकी हालत एक ऐसे अनाथ बच्चे की तरह थी जिसके मां-बाप मर गए हो, बिलकुल एकाकी। उसकी म्याऊं-म्याऊं भी एक दबी हुई आवाज में। हमें दया आ गई। पर वह हमसे बड़ी ही शंकित थी। शायद उसके साथ पहले कोई 'चट्टी' या ठगी हो गई हो। वह ठण्डे दूध को भी ठहर-ठहरकर पीती थी। मेरी लडकी ने सुझाव दिया कि बिल्ली को 'अडोप्ट' कर लिया जाए और उसकी परवरिश ठीक ढंग से हो। जहां तक 'अडोप्ट' करने का सवाल था, हम घर में सभी एकमत थे, परन्तु बीवी को एक आशका थी और वह अपने स्पष्ट शब्दों में सामने रख दी, बिना किसी लाग-लपेट के।

"बिल्ली पालने का मतलब यह होगा," उसने कहना शुरू किया, "कि गली के सारे कुत्तों की आखें हमारे घर पर लगी रहेंगी। हर समय कुत्तों के बारे में ही सोचते रहना शरीफ घरों का काम नहीं। दूसरी बात यह भी है कि कुत्ते आते हैं दबे पांव, बड़े चुपके से, चोर की तरह।"

अन्त में तय यह रहा कि कुत्तो के भय से बिल्ली को कुत्तों के सामने कैसे फेंका जा सकता है। बिल्ली के लिए एक स्थान सुरक्षित कर दिया जाए और यह भी तय रहा कि जब तक बिल्ली पूरी बालिग न हो जाए, उसे दिन में बांधकर रखा जाए और रात्रि में उसे पूरी आज़ादी हो।

इस छोटी-सी बिल्ली ने हमें बड़ा प्रभावित किया। एक होनहार

बिल्ली के सभी गुण उसमें नजर आए। बिल्ली इकरंगी नहीं थी। बिल्ली की तीन सम्यताओं का सम्मिश्रण। बड़ी ही सफाई-पसन्द। पास में रखे हुए 'कुण्डे' को ही 'टायलेट' की जगह काम में लेती।

थोड़े ही समय में घर के सभी सदस्यों से घुलमिल गई। इतनी घुल-मिल गई कि जैसे इस बिल्ली के साथ जन्म-जन्मान्तर से सम्पर्क चला आ रहा हो। मेरी पत्नी से तो, खासतौर पर उसकी बहुत ही पटती। वह झट से फुदककर उसकी गोदी में जा बैठती। धक्का देने पर भी हटती नहीं। मुझे एक दिन की बात याद है। बिल्ली उसकी गोद में बैठी हुई थी और वह बड़े प्यार से उसके सिर पर हाथ फेर रही थी। वह भी जमकर बैठी हुई अपनी पूंछ हिला रही थी। मुझे एक मजाक सूझा।

"बड़ी ही अजीब बात है कि दो बिल्लियां लड़ती नहीं। उल्टे एक-दूसरे से प्यार कर रही है।" मैंने अपना हथगोला फेंका।

"दो कहां हैं, एक ही तो है।" मेरा गोला फूटा नहीं। मेरी पत्नी बात समझी नहीं। विस्फोट होने से बच गया।

"देखो, अंग्रेजी में 'कैट' का मतलब औरत भी होता है। औरत और बिल्ली समानधर्मा है, शास्त्रों में भी लिखा है।" मैंने बात संक्षेप में ही कही। छोटा-सा तूफान उठा और बैठ गया।

"शुरुआत में तो हमने बिल्ली को 'मिनकी' से सम्बोधित करना शुरू किया। ज्यों-ज्यों वह प्रिय से प्रियतर होने लगी, उसका नाम भी संशोधित होता गया। मिनकी से मिनाकी बनी और मिनाकी से आगे चलकर बन गई मेनका। मेनका शब्द सुनते ही कान ऊंचे करके दौड़ी चली आती। मेनका को अपना नाम पसन्द जरूर आया होगा। तब ही तो जब किसी ने पुकारा 'मेनका' और वह झट से म्याऊं-म्याऊ के साथ खुद ही हाजिर हो जाती। बड़ी ही द्रुतगति से उसने पारिवारिक सदस्यता प्राप्त कर ली। एक दिन मेरी लड़की ने सुझाव रखा कि उसका नाम राशनकार्ड में जुड़वा लिया जाए। आपत्ति की बात तो खैर इसमें थी भी नहीं। उसका तर्क था, "जब लोग तो मरे हुए व्यक्तियों को भी राशनकार्ड में मरने नहीं देते, फिर मेनका का नाम क्यों न हो?"

इस बात पर हम सभी हंसे। खूब हंसे।

मैंने इस बात पर एक चुटकुला सुनाया।

"एक औरत ने अपने पति से 'नथ' बनवाने का अनुरोध किया तो पति बोला कि मेरा इरादा तो तेरा नाक काटने का है।"

एक बार फिर हम सब लोग हंसे। मेनका न जाने क्या सोचकर फुदककर मेरी गोद मे आ धमकी। शायद समझ गई हो कि राशन का यह स्केल भी बना रहे तो गनीमत है।

"आपका चुटकुला तो मेनका को भी पसन्द आया।" मेरी लड़की की टिप्पणी।

मेनका के आने से हमारे घर में खुशी की लहर आ गई। मगर सबसे बड़ा फायदा तो यह हुआ कि एक गहन रहस्य की बात समझ में आ गई। बुद्ध को ऐसी बात तो हाड़-मांस गलाकर समझ में आई थी।

मैंने पढ़ा था, कई बार और कई जगह पढा था कि पण्डित नेहरू ने हिमालयी पण्डा पाल रखा था। कई दिन तक तो मैं यही समझता रहा कि नेहरू एक पण्डित हैं और इसलिए एक पण्डे की तरफ उनका रुझान होना स्वाभाविक है। मन में एक बात और जमी हुई थी। कहने को कोई कुछ भी कहे। जात-पात न मानने की लम्बी-चौड़ी घोषणाओं के बावजूद एक पण्डित का एक पण्डे के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। अगर कोई करता है तो दिमागी तौर पर वह ईमानदार नहीं है। पानी से खून गाढ़ा होता ही आया है। स्वाभाविक आकर्षण के कारण ही पण्डितजी पण्डे को अपने हाथ से खिलाते हैं और अपने इतने व्यस्त कार्यक्रम में से कुछ समय पण्डे के लिए निकालते हैं, यह मेरी धारणा थी। पर एक सवाल रह-रहकर उठता। "क्या पण्डा पंगु है जो पण्डितजी अपने हाथ से खिलाने मे पुण्य-लाभ मानते हों?" मैंने कई बार सरपच्ची की पर फिर भी पूरी बात समझ मे नही आई।

कुछ दिन बाद एक दिन अखबार में चित्र देखने को मिला। पण्डितजी पण्डे को खिला रहे हैं, पण्डा तो किसी पण्डित का सगोत्री न होकर जामवन्त का वंशज निकला। मुझे बड़ी हंसी आई। देश के इतने बड़े आदमी के पास आदमियों से मिलने की तो फुरसत है नही। मगर ... के वंशज का आतिथ्य-सत्कार करने को समय है, किसी ...

जिर्राफ के लिए समय का अभाव नही। बड़े आदमी की सनक! कोई कहे तो क्या कहे? बड़े आदमी सनक पालते हैं। मेरी समझ में बात आ गई।

बहुत कुछ सोचा तो एक बात और समझ में आ गई कि पण्डित नेहरू ही एक मात्र सनकी नही थे। हर बड़ा आदमी सनकी होता है। धर्मराज युधिष्ठिर कुत्तों के शौकीन थे। अपने कुत्ते के लिए स्वर्ग तक छोड़ने को तैयार हो गए। एडवर्ड अष्टम ने तो अपनी मनचाही बीवी के लिए राजगद्दी ही छोड़ी थी और लोगों ने दांतों तले अगुली दबा ली। न्यूटन का कुत्ता कितना अलाम था परन्तु फिर भी प्रिय। इतिहास भरा पड़ा है। कोई तोते का शौकीन है, (हीरामन को कौन नही जानता?) तो कोई उल्लू का शौकीन, तो कोई स्वामी बिल्ली का। और तो और, भोले शम्भु अपने नान्दी को नही छोड सकते। देवताओं ने गजब ही कर दिया। किसी को ढग का जानवर नहीं मिला तो भैंसा ही पकड़ लिया। गणेशजी की 'चॉयस' चूहे पर पडी। ऐसे गणेश को पूछकर हर कार्य का श्रीगणेश करते हैं। कमाल है। क्या कोई कुएं मे भाग पड़ी हुई है? पर इसके पीछे कोई कारण भी रहा होगा, मेरी समझ में नही आया।

पर मेनका ने मुझे आत्मज्ञान दिया। जब वह मेरी गोद मे बैठ जाती या रात को मुझसे चिपककर सो जाती तो मैं भाव-विह्वल बना कभी उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगता तो कभी उसके सिर पर। उसके स्पर्श मे बिजली का करण्ट। एक विशेष प्रकार का स्पन्दन। एक ऐसा अनुभव जो आदमी नाम के जानवर के सम्पर्क से कभी प्राप्त नहीं हुआ था। 'वाह री मेनका' कहकर मैं उसे प्यार से गले लगाता तो वह भी अपनी आंखें मेरी आखो मे गड़ा देती और मूक भाषा मे बहुत कुछ कह जाती। शब्दो मे ढाला जाए तो उसकी मोटी अभिव्यक्ति यही थी कि वह आत्मसात् होना चाहती थी। न कोई प्रतिदान, न कोई प्रतिफल। काश! कीट्स को, जो 'सिन्सेयरिटी' की तलाश मे किसी बुलबुल के पीछे दौड़ता रहा, कोई मेनका मिली होती!

मेनका की मधुर म्याऊं-म्याऊं से चिरन्तन रहस्य की पहली पर्त खुली। मेनका व उसकी बिरादरी प्यार को न तो एक्सप्लॉइट करती है न ब्लैकमेल और न किसी प्रकार का कमर्शियलाइजेशन। छोटा-मोटा हर

आदमी प्यार करना चाहता है। अपने-आपको अपने ही ईगो से रिलीज करना चाहता है। बेलगाम होकर, सारी थोपी हुई तथा विरासत में मिली हुई मजबूरियों और मान्यताओं को दूर रखकर संलाप करना चाहता है। पहुंचे हुए सन्त और योगियों के बारे मे तो कहा जाता है कि वे अपने-आपको 'डिसैम्बल' करते हैं। धड़ कहीं तो सिर कहीं, हाथ कहीं तो पांव कहीं। पर ऐसे समय में किसी भी व्यक्ति को साक्षी होने का अवसर नहीं देते। हर आदमी अकेले मे शवासन करना चाहता है। एक नयी ऊर्जा की तलाश में। हर बोझ ढोने वाला जानवर, चाहे ऊंट हो या गदहा, दिनभर बोझ ढोने के बाद राख में 'लिटना' चाहता है ताकि वह तरोताजा हो जाए। कोई भी वर्दीधारी चौबीस घण्टे वर्दी धारण किए हुए नहीं रह सकता, वर्ना वह अकड़ जाएगा।

हर बड़ा आदमी भी कुछ क्षण ऐसे चाहता है जो सही माने में उसके हों। वह चाहे तो किलोल करे, किलकारियां मारे, चेतना की सारी वर्दियां, बेल्ट वगैरह हटाकर, एक गदहे की तरह राख मे लोट सके। कुछ बातें कर सके ऐसी भाषा में, जिसकी ग्रामर उसकी खुद की बनाई हुई हो। उन्मादों और आवेगों को खोलकर रख सके, सीटी बजाकर। ऐसे क्षणो को वह किसी आदमी के बच्चे के साथ 'शेअर' करने को तैयार नहीं। इसके लिए कोई उपयुक्त पात्र हो सकता है तो वह होगा कोई पण्डा, स्यामी बिल्ली, ब्रूम, कुत्ता। ये निष्पाप जीव न तो स्थिति को 'एक्सप्लॉयट' करते है और न 'ब्लैकमेलिंग' जबकि आदमी का बच्चा तो इसके अलावा और कोई चीज जानता ही नहीं। मेनका के अत्यधिक प्यार से ही मुझे यह सब कुछ ज्ञान हुआ। मैं बुद्ध से बढ़कर प्रबुद्ध हो गया।

दिन मे रस्सी से बंधी हुई मेनका रात मे आजाद हो जाती। बिल्ली वंश की सारी परम्पराएं व प्रवृत्तियां उसके खून में थी। चूहों पर झपटने की सहजात कला व कार्यकुशलता के विकसित होने में कोई देर नहीं लगी। वह अपने 'स्पेअर' टाइम में चूहे पकड़ने की टैक्टिक्स का अभ्यास करती रहती थी। रूई की गेंद हो या कोई रबर की गेंद हो, उसे चूहा मानकर बड़ी मुस्तैदी से उस पर झपटती। एक दिन मैंने उसे चूहे का शिकार करते देखा। एक बड़ा भारी चूहा, जिसने कई छोटे-मोटे चूहे

होंगे। बहुत सारे पिस्सुओं का जनक। प्लेग का व्यापारी। इससे मुझे यह बात तो जंच गई कि मेनका अब पूर्णतया स्वावलम्बी है। उसे किसी की दया की दरकार नहीं। उसका अपना कैरिअर है। मेनका खुद अपने बूते पर जी सकती है।

एक दिन ख्याल आया कि मेनका की रस्सी छोटी पड़ती है, उसको एक लम्बी डोर दी जाए। बड़ी रस्सी ला दी। अब उसके घूमने की परिधि बड़ी हो गई। लम्बी डोर देने के पीछे मूल मकसद तो इतना ही था कि उसका क्षेत्र विस्तृत हो। उसकी आजादी सीमित न रहे और स्वायत्तता का क्षेत्र भी कुछ बड़ा हो जाए।

फिर वही संयोग की बात। एक दिन मेनका खूटी से लटक गई। मेरी लड़की ने देखा तो वह हक्का-बक्का रह गई और चिल्ला उठी, "मेनका ने आत्महत्या कर ली।"

हम सब भागकर मेनका के कमरे में गए तो देखा कि रस्सी खूटी में अटकी हुई है और मेनका लटकी हुई। मेनका की पिछली टांगें मुंह की तरफ खिंची हुई तथा गर्दन झुकी हुई।

मेनका नीचे उतारी गई। पानी छिड़का गया। मेरी लड़की भागकर हमारे पड़ोसी डांगर डाक्टर को बुला लाई। डाक्टर आया।

डाक्टर को मैंने सारी बात बताई और स्थिति समझाई। मुझे अब भी भरोसा नहीं हो रहा था कि मेनका मर गई है।

"देखिए तो सही, डाक्टर साहब! क्या हमारी बिल्ली सचमुच मर गई? क्या किसी प्रकार की 'ममाज' करने से यह जी सकती है कि नहीं?" मैं अपनी व्यग्रता को छुपा न सका।

"बिल्ली तो मर चुकी," डाक्टर ने औपचारिक तौर पर बिल्ली को मृत घोषित कर दिया।

"मेनका ने आत्महत्या किन कारणों से या किस हालत में की होगी, क्या आप इस पर रोशनी डाल सकेंगे? मुझे ऐसा कोई कारण नजर नहीं आया जिससे उसे आत्महत्या करने की नौबत आ पड़ी हो। हमारा न इससे किसी प्रकार का झगड़ा था और न किसी प्रकार का मनमुटाव।" मैंने अपने मन की बात कह दी।

"बुरा न मानिएगा, आपकी मेनका मूर्ख थी मूलतः। मगर आपने दो-र हरकतों के आधार पर उसे अकलमन्द समझ लिया और उसे सर्टिकेट दे दिया अकलमंदी का। सही माने में मेनका के मरने का कारण प है।" डाक्टर ने बम फोड़ दिया।

"यह आप क्या कह रहे हैं, डाक्टर साहब? मैं हूं मेनका की मौत का रण?"

मैं डाक्टर साहब के मुंह की तरफ देखने लगा।

"देखिए, यह तो जग-जाहिर है कि आप मेनका को चाहते थे, मेनका र फिदा थे। नतीजा इसका यह हुआ कि मेनका को आप एक मेग्नीफाइंग तास से देखने लगे। पर वह सही शकल तो थी नहीं। डाक्टर ने बात पूरी ो न की थी कि मेरे मुह से निकल गया, 'ऐं।' "

"ऐं की बात नही। आपने उसे लम्बी डोर दी कि नही?" डाक्टर ोला।

"हां।"

"आपकी मंशा तो यही थी कि आपकी मेनका तबीयत से घूमे, उसको ोई तकलीफ न हो?"

"हा।"

"पर आपने यह कभी नही सोचा कि मेनका इसके काबिल न थी। मूर्ख को लम्बी डोर देने का मतलब यह होता है कि आप उसे फांसी-खाने ी प्रेरणा दे रहे है?"

"पर मेनका मूर्ख नहीं थी। यह मेरी सकारण धारणा है।"

"तो फिर सौ चूहे खा लिये होंगे?" डाक्टर ने बात को ट्विस्ट किया।

"मान लू कि सौ चूहे खा भी लिये हों, पर उससे क्या?" मैंने तर्क की बाह पकडी।

"सौ चूहे खाने के बाद बिल्ली या तो हज को जाए या हारीकीरी करे। आपकी बिल्ली ने हाराकीरी कर ली, यों मान लो।" डाक्टर ने बात गले उतारने की कोशिश की।

"मेरा तो अब भी खयाल है, मेनका ने आत्महत्या की है।"

"अच्छा हुआ कि आपकी मेनका मर गई, वर्ना आपको मरना पड़ता या मेनका की जगह किसी और को मरना पड़ता," डाक्टर ने धमाका किया।

"मैं यह क्या सुन रहा हू, डाक्टर साहब ! मेरे कानों में कोई गड़बड़ तो नही हो गई है ?" मैंने कानो को दोनो हाथों से दबा लिया।

"कानों को दबाओ मत, कानों को खोलकर सुनो।" डाक्टर गरजा। "प्यार की सीमा होती है, पर जब उसकी सीमा और सीलिंग का अतिक्रमण होता है तो प्यार भी 'रेड' में आ जाता है। 'रेड' का माने आप समझते हैं—'खतरे का रंग'।"

"डाक्टर साहब, आप तो पहेलियां बुझा रहे है ?" मैं गिड़गिड़ाया।

"आप तो बड़ी ही ऊकचूक बात कर रहे हैं। ओथेलो के मुंह से जब शेक्सपीयर ने कहा कि मैंने उसे (डेमिडेमोना) प्यार तो खूब किया, पर बुद्धिमानी से नही, तो इसका सीधे-सादे शब्दों मे मतलब क्या था? समझने की कोशिश करो।"

"क्या था ?" मेरे मुह से निकल गया। मैं हक्का-बक्का।

"इसका मतलब यह था कि चौबीस कैरेट का या सौ टंचो का सोना बेकार है यदि उसमें कुछ तांबे या चादी की कुछ मिकदार मे खाद नही मिली हुई है। साईकिल मे ब्रेक होना ही चाहिए। सब्जी में कुछ खारापन (नमक) होना ही चाहिए। प्यार मे बुद्धि का कुछ पुट तो होना ही चाहिए वर्ना···"

"वर्ना ?" मेरे मुह से निकल गया। मैं अवाक्।

"वर्ना प्यार पागलपन बन जाएगा। बिना बुद्धि का प्यार बिना नमक की सब्जी है। बुद्धि प्यार का विटामिन है, आंखें है, टांगें है। बिना बुद्धि प्यार अन्धा है। अन्धा कुएं में गिरता है, कुतुबमीनार की ऊंचाई पा भी ली तो गिर पड़ता है। एक धम से। चौबीस कैरेट के सोने के आभूषण वैसे ही होते है जैसे बिना रीढ की हड्डी के शरीर। चाहे जिधर मुड जाते है, चाहे जैसी शकल अख्तियार कर लेते है। हर चीज होलडोल हो जाती है और इसलिए ही तो उसमें तांबा मिलाया जाता है ताकि उसमे कडक रहे। उसकी शकल बिगडे नही। प्रेम व्यंजन है तो बुद्धि लवण। लवण

लावण्य देता है।

डाक्टर शायद भाषण झाड़ता ही जाता पर मैंने बीच में अपनी तुरप मार दी।

"प्यार के साथ बुद्धि का मेल नहीं, आप कुछ भी कहें।"

"तब तो, फिर कुतुबमीनार पर आखिरी मंजिल पर चढ़ने की मुमानियत बनी रहेगी। मेनका मरती ही रहेगी"—डाक्टर ने दार्शनिक भाव से बात पूरी की।

डाक्टर ने छुट्टी ली, उसे जाना था किसी जरूरी काम से।

उस दिन के बाद जब कभी भी अखबार में किसी की आत्महत्या की बात पढ़ता हूं या कोई चर्चा सुनता हूं तो मेनका मेरे दिमाग में फिर से जी उठती है और डाक्टर की बात ताजा हो जाती है। मैं मेनका का पोस्टमार्टम शुरू कर देता हूं। इस दिमागी पोस्टमार्टम के दौरान सूक्ष्म आंखों से देखता हूं कि किसी भी आत्महत्या की स्थिति अपरिहार्य नहीं होती, बचाई जा सकती है। हर आत्महत्या के पीछे जिम्मेवार होते हैं कुछ अदृश्य हाथ और एक अदृश्य रस्सी। मैं मानस चक्षुओं से यह सब कुछ देखता हूं। साइकिल के ठीक समय पर ब्रेक लग जाए तो संभावित एक्सीडेण्ट टाला जा सकता है।

मैं आज भी उस स्थल पर जाने से बचता हूं जहां मेनका रहती थी। उस खूंटी पर कोई चीज नहीं टांगता जहां मेनका टंग गई थी। खूंटी में एक क्रॉस टंगा हुआ है जिसे मेरे सिवाय कोई नहीं देख सकता।

मेनका की रूह आज भी उस कमरे में घूमती रहती है। मुझे कमरे में आज भी उसकी म्यां-म्यां सुनाई पड़ती है जबकि मेरे घर में कोई इस बात को मानने तैयार नहीं। उन सबके अनुसार यह मेरा भ्रम है। मेरी हालत हेमलेट की है।

डेनमार्क के राजकुमार हेमलेट की पीड़ा मैं अनुभव करने लगता हूं। हेमलेट अपने बाप का भूत देखना चाहता था। मैं हेमलेट बन जाता हूं और चाहता हूं कि मेनका का भूत उतरकर आए और बतलाए कि उसने खुदकशी की या उसे मेरी बेवकूफी से मरना पड़ा। हेमलेट की तरह 'टु बी' और 'नॉट टु बी' के चक्कर में फंसता ही जाता हूं। एक आवाज अन्दर से

आती है।

यह भी हो सकता है कि मेनका ने जानबूझकर कुरबानी दी हो, मेरे लिए, मेरे ही हित में।

जीवनकाल में मुझे एक रहस्य समझा गई कि पंडित नेहरू के पख्त पालने के पीछे मूल बात क्या थी।

मरकर एक दूसरी बात समझा गई कि प्यार की परिधि व कुछ सीमाएं होती हैं। सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। डाक्टर में मेनका का ही भूत बोल रहा था वर्ना 'डागर डाक्टर' इतनी सारी बातें कैसे कह सकता था।

मुझे कुछ पदचाप सुनाई दिए। लगा कि डाक्टर आ रहा है।

मैंने अखबार उठाया तो मेरी नजर 'एक बॉक्स न्यूज' पर टिक गई "

"कुतुब मीनार से गिरकर एक युवती ने आत्महत्या कर ली," मैंने अखबार फेंक दी। इस महीने की यह तीसरी आत्महत्या थी। पढ़ने की कोशिश ही नहीं की।

एक सिगरेट निकाली। धुआं निकालने लगा। धुए के चित्र बनने लगे और एक धूमिल चित्र टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं। एक शब्द पढ़ सकता हूं धुंधला-सा —श'''हा'''द'''त। धुआं उड़ाने के लिए फूक मारता हूं। शहादत गायब।

छोटू क्या सोचता होगा ?

"हलो, छोटू ! क्या हाल-चाल है ? चंगा ?" मैंने दुकान में घुसते ही छोटू से सवाल किया।

छोटू मेरा पुराना बारबर। उस समय से जब मेरे बाल एकदम जेट ब्लैक थे। उस समय से आज तक मेरे आसपास बहुत सारी तब्दीलियां आ गई हैं और आती ही जा रही हैं। उस समय का प्राइस इण्डेक्स और आज के प्राइस इण्डेक्स का मुकाबला ही नहीं। सरकार ने तंग आकर 'बेस -यीअर' ही बदल दिया। परन्तु छोटू आज भी मेरा बारबर। मेरे और छोटू के सम्बन्धों में कोई तब्दीली नहीं।

"कर क्या रहे हैं ?" छोटू कहने लगा, "वही पुराना धन्धा। लोगों की ठुड्डी सहलाते हैं और दुनिया की ठुड्डी सहलाते-सहलाते अपनी ठुड्डी सफेद हो गई।"

"वाह रे, छोटू ! अधूरी बात क्यों करता है ? लोगों के सिर पर हाथ भी तो फेरते रहते हो ?"

"उससे क्या हुआ, मेरी सरकार ? कई सिरफिरे आते हैं। उनका सिर सहलाते जाओ, उनके मन बहलाओ और अन्त में वे कहते हैं कि पैसे अगली बार। जब मैं झुंझलाहट में आकर ज्यादा जोर देकर कहता हूं तो कहने लगते हैं कि तुमने कौन-सी बाजरी तोली है ? बाल ही तो काटे है ?

"एक दिन एक बाबू साहब बोले कि गांधीजी ने कहा है कि नाई और वकील का पेशा एक जैसा ही है क्योंकि दोनों ही समाज को कुछ देते नहीं, दोनों ही समाज को कतरते हैं। अगर ये दोनों हट जाएं समाज से तो इसमें समाज का भला है।" शायद वह, गांधीजी के बाद न जाने किस

को घसीटकर लाता, मुझसे रहा न गया और मैंने कहा—"गांधी जी ने तो बहुत सारी बातें कही है, पर उनकी बातें तुम्हारे भेजे में घुस नही सकती है। तुम्हारी खोपडी तो मेरी देखी हुई है। गांधी जी की बात समझ मे नही आई उन लोगों की समझ में भी, जो उनके नाम की कमाई खा रहे है।"

वह मेरी बात सुनकर दग रह गया। वह बोला :

"मैं तुम्हे किताब में दिखा सकता हूं, मिस्टर ! तुम बाल काटने का काम किए जाओ, यह अक्ल की बात समझ में नही आ सकती।"

"तुम्हारे जैसा ही होगा तुम्हारी किताब वाला। गाधी को समझना आसान नही। गाधी को समझते नही वे लोग भी जो गाधी जी को बेचते हैं, गांधीवाद के थोक व्यापारी बनते है और थोक भाव से गाधीजी को बेचते है।"

"मेरे से 'बेट' कर लो," वह बोला।

"काहे की। गाधीजी ने तो यह कहा कि नाई को चाहिए कि भेड़-बकरियों की ऊन कतरने के बजाय तुम जैसे आदमियो के बाल काटे। गाधी जी ने शायद सोचा होगा कि भेड़-बकरी की ऊन काटना ज्यादा अच्छा है क्योंकि इन जानवरों की ऊन एक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करती है जबकि आदमियों के बालों से कोई मतलब सिद्ध नही होता। तुम्हारे बाल एक बोझ हैं, वैसे ही तुम्हारे वहम। खोपडी हल्की रक्खो।"

"छोटू, नाई की कैंची चलती रहनी चाहिए, पर जब उसकी जीभ चलने लगती है तो समझ लेना चाहिए कि उसकी दुकान में कुछ नही है।" मैंने कहा।

"पर आपको यह किसने कहा कि नाई की दुकान में बेचने लायक कोई चीज होती है इसीलिए ही तो नाईकी दुकान को 'सैलून' कहते है।"

"हम लोग तो लोगो के बाल उतारते हैं, सर के भी और दाढ़ी-मूंछ के भी। मजे की बात यह है कि उनके ही बाल उनके ही पैरो मे। बालो मे अगर इज्जत है तो इज्जत पैरों मे।" छोटू का जवाब था।

"छोटू, तू तो नेता होने लायक है। जीभ तेरी कैंची की तरह चलती है। अच्छा तो यह रहेगा कि तू चुनाव लड—एक नारे के साथ 'दुनिया-

भर के नाइयो एक हो'।"

मेरी बात पर छोटू को हंसी आ गई।

"अरे, हंसते क्या हो ! मान लो कि दुनिया-भर के बारबर लोग एक हो जाए तो वे अन्य लोगों पर प्रेशर ला सकते है। जो तुम्हारे साथ नहीं, तुम उसकी हजामत बनाना बंद कर दो। सारे ब्यूटी सैलून तुम्हारे वर्ग के हाथ में हैं। केश प्रसाधन की सारी कलाए तुम्हारे हाथ में है। आज के एक्टर और एक्ट्रेसेज तुम्हारे हाथ के बनाये हुए है। ये सारी मोड गर्ल्स किसकी देन हैं ? बालों का संवारना, जुल्फो मे मैगनेट भरना किसको आता है ? तुम्हे स्वयं अपने स्वरूप और शक्ति का हनुमानजी महाराज की तरह ज्ञान नहीं। देख, तुम्हारे यहां ये दो चित्र दो स्थितियां प्रकट करते हैं।

"एक हजामत के पहले की।

और दूसरी हजामत के बाद की।

"एक ही आदमी के दो रूप। एक ही चीज के दो पहलू। मगर स्थितियो में अन्तर। हजामत के पहले वाले चित्र में आदमी वनमानुष लगता है। एक मवाली लगता है।

"हजामत के बाद' वाले चित्र मे रोमांटिक लगता है। एक पर्सनैलिटी निखर आती है। पर्सनैलिटी मे ही प्लस पोयण्ट होते हैं।

"पर आज पर्सनैलिटी दरअसल एक बारबर की ही देन है। परमात्मा ने आदमी के बनाने मे जो खामियां रख दी थीं, उनको सुधारने वाले दो ही व्यक्ति होते है, एक नाई और एक दर्जी।

"आज का व्यक्ति बारबरमेड है, टेलरमेड है। क्यों ? क्या गलत कहता हूं ?" मैंने छोटू के यहां एक कार्नर मीटिंग कर ली।

"वाह गुरु ! खूब लाये नये चांद की।" छोटू ने चुटकी लेनी चाही। "लो, तुम तो मजाक समझ रहे हो ?" छोटू की प्रतिक्रिया जानने के लिए मैं रुका नहीं और कहता ही चला गया, "बाबा, शेखसादी और मिर्जा गालिब से बड़ा तो आलिम फाजिल कोई हुआ ही नहीं। इन दोनों के साथ वह चोट हुई कि तेरे-मेरे जैसे आदमी तो ऐसी हालत में आत्महत्या कर लें। इन दोनों महानुभावों को बादशाह ने दावत पर बुलाया। उन्होंने

अपने इल्म के नशे में किसी चीज का ख्याल नहीं रक्खा। न दाढ़ी बनवाई, न कपड़े ही बनवाये और चल दिए मवाली की तरह। सन्तरी ने रोक लिया। अब तुम ही बताओ, कहीं माथे पर लिखा था कि आप हैं हिंदुस्तान के आला शायर मिर्जा गालिब। नतीजा यह हुआ कि आप बेआबरू होकर आ गए। इसी प्रकार की फजीहत हुई ईश्वरचन्द विद्यासागर की। एक जगह कुलियों में पकड़े गये।

"यह तो बराबर के हाथ का ही कला-कौशल समझना चाहिए कि आला इडियट लोग अशोका होटल में चले जाते हैं। बैरे लोग बाखरमेड शख्सियत के पीछे-पीछे चलते हैं। बारबर के हाथ में होता है पान भी, पास पोर्ट भी, जिसकी वजह से बड़ी-बड़ी डिनर पार्टियों में ऐसे लोग पहुंच जाते हैं। इनके बालों के नीचे कुछ नहीं होता। सो प्यारे, मेरा कहना, मान; लगा दे नारा—दुनिया-भर के नाइयो, एक हो जाओ।"

मैंने छोटू के मुंह की तरफ देखा, एक खास भाव-भंगिमा के साथ, जिसका मतलब था कि तुम क्या कहते हो।

"गुरू, तुम्हारी बात तो जची और मेरे दिमाग में एक और जच गई।"

"वह क्या?" मैं पूछ बैठा।

"कि तुम्हारे पास पैगाम है दुनिया को देने के लिए। तुम्हारी वाणी में मोहिनी है जिससे तुम आदमी तो क्या, भाटे को भी पिघला सकते हो।" छोटू ने बात पूरी कर दी।

"वाह छोटू! हमारी बिल्ली हमसे ही म्याऊं।" मैंने सिर हिलाते हुए बात कही।

"नहीं गुरू! सच कह रहा हूं, खुदा की कसम।"

"ऊं!" मैंने आगे कुछ नहीं कहा।

"गुरू, तुम्हारे में तो पैगम्बर होने के लक्षण हैं। पैगम्बर लोग और क्या करते होंगे, बस यही तो तुम्हारी तरह चुटकुलेब[illegible] -किस्से वगैरह के जरिये लोगों को माय[illegible]।" [illegible] हो गया।

मैं भी यही सोचता हूं कि इन पैगम्बरों ने अपने पास के लोगों के चुटकुले कहानी-किस्से सुनाये। कोई भी कहानी-किस्से सुनाने वाला पैगम्बर बन सकता है। क्यों? मुझे लगा कि छोटू (मजाक में ही सही) बात तो गहरी कह रहा है।' मैं भी कुछ सीरिअस हो जाता हूं।

"बस एक दिक्कत जरूर आती है, पैगम्बर बनने में?" छोटू इस बार काफी गम्भीर नजर आता है।

"वह क्या?" मैं उत्सुक हो गया।

"हर पैगम्बर मरता है बेमौत। यीसु के कीलें ठोकी गईं। महात्मा गाधी को गोली मार दी गई। मीरा को जहर पिलाया गया"···छोटू ने बात पूरी भी नहीं की थी कि मैंने कुछ नाम और जोड़ दिये।

"सुकरात की भी यही हालत हुई। मोहम्मद साहब को हिज्र करना पड़ा।"

"मरने के बाद तो उनकी पूजा जरूर होती है।" छोटू बोला।

"मरने के बाद किसने देखा है। मरने की शर्त मंजूर नहीं, बाबा! हम तो जीवित रहने के लिए झूठी गंगाजली उठा सकते हैं, छोटे-से प्रमोशन के लिए अफसर की चमचागिरी कर सकते हैं, झूठा हल्फ उठा सकते हैं, बस मरने की बात मंजूर नहीं! दूर रखो पैगम्बरी।" मैंने अपना मेन्युफेस्टो पेश कर दिया।

"तो फिर गुरू···" छोटू कुछ कहना चाहता था कि मैं बीच में बोल पड़ा।

"अपने राम पैगम्बरी को धन्धे के तौर पर तो अपना सकते हैं। धन्धा कोई बुरा नहीं होता परन्तु मरने को तैयार नहीं। न किसी बात के लिए, न किसी सिद्धान्त के लिए। मुझे तो चाणक्य की बात जंचती है 'आत्मानं सततं रक्षेत दारैरपि।"

"मतलब क्या हुआ गुरू?" छोटू ने पूछा।

"मतलब यह हुआ कि भरोसा किसी पर मत करो। अपनी रक्षा करो, अपनी औरत से भी। खैर, इन सबसे भी जरूरी है कि तू मेरी दाढ़ी बना।" मैंने सारी प्राथमिकताएं बदल दीं।

"फिर गुरु संसार भर के ···"

छोटू की बात मैंने पूरी ही नहीं होने दी। मैं बोल पड़ा, "मार गोली इन सबको। उल्टा-सीधा उस्तरा चला, प्यारे!"

"इतनी जल्दी, गुरू?" छोटू कुछ कहना चाहता होगा कि मैंने फिर उसे रोक दिया।

"मुझे साहब ने बुलाया है।" उनके बंगले जाना है।

ज्यों ही दाढ़ी पूरी हुई, मैं उठा, जेब में हाथ डाला, जेब में कुछ नहीं निकला तो 'सॉरी छोटू' कहकर दुकान से निकल पड़ा।

साइकिल ली, चल पड़ा। छोटू की क्या प्रतिक्रिया हुई होगी, जानने की न तो कोशिश की और न मेरे पास इतना वक्त ही था।

ब्रह्मा बगावत की बाट पर

जब धरती बन गई तो त्रिमूर्ति ने तै किया कि धरती के उपनिवेशन का प्रारम्भ बने। कुछ देवताओं को स्वर्ग से पृथ्वी पर शिफ्ट किया जाए या वहीं पर नयी सृष्टि की रचना की जाए, यह सारा कार्य प्रजापति के जिम्मे छोड़ा जाए। वैसे भी सृष्टि-रचना का पोर्टफोलियो सदा से प्रजापति के पास ही चला आया है। प्रजापति ने देवताओं के मुख्य अभियंता विश्वकर्मा को अपने साथ लिया। प्रजापति ने धरती की मिट्टी अपने हाथ में ले ली।

"मिट्टी तो अच्छी मालूम देती है, विश्वकर्मा, देखो तो सही।" प्रजापति बोले।

"मैं क्या देखूं जब आप देख रहे हैं, पितामह!" विश्वकर्मा हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

प्रजापति ने मिट्टी के लोंदे को अपने हाथ में दबाया और ऊपर-नीचे किया और एक खिलौना बना दिया।

'यह मिट्टी तो ठीक है, इसमें गंध है, चेप भी है। खिलौने बनाने लायक है।' प्रजापति ने मन ही मन कुछ कहा।

विश्वकर्मा देखता रहा।

प्रजापति का मूड आ गया। मिट्टी से तरह-तरह के खिलौने बनाने लग गए।

खिलौने देखकर प्रजापति बड़े खुश हुए। उन्हें दिली खुशी हुई।

"क्यों! ये खिलौने कैसे लगे, विश्वकर्मा?" प्रजापति बोले।

"इसमें पूछने की क्या बात है, महाराज! आप ही खिलौने

हैं तो फिर कमी क्या हो सकती है, आपसे बड़ा 'आर्किटेक्ट' कौन हो सकता है भला !"

प्रजापति अपने मूड में खिलौने बनाते गए। धरती की मिट्टी को विभिन्न शक्लें देते गए। किसी के दो टांगें, किसी के चार टांगें, किसी के पूछ लगा दी तो किसी के सीग। किसी के बड़े-बड़े कान तो उसके साथ छोटी-छोटी आखें। कोई बिना सीग का। विश्वकर्मा को हसी भी आये और आश्चर्य भी, पर विधाता की तूलिका कौन पकड़े।

प्रजापति दिन-भर खिलौने बनाते रहे।

बूढ़े प्रजापति को कुछ थकान महसूस होने लगी।

"अब बोलो विश्वकर्मा, खिलौने तो बहुत हो गए। अब और नहीं बनायेंगे। यह धरती इन खिलौनो से खूब सजेगी। कितने प्यारे-प्यारे। धरती की मिट्टी, धरती के खिलौने टूटेंगे तो धरती का माल धरती पर। अपने तो निमित्त मात्र हैं।" बूढे प्रजापति अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरने लगे।

"महाराज, एक काम और करो। आखिर आपने इतनी मेहनत की है," विश्वकर्मा बोला।

"वह क्या रह गया ?" ब्रह्मा बोले।

"इनमे चाबी तो भरो ताकि ये नाचें, गायें और बोलें भी। प्रजापति के बनाए हुए खिलौने तो तब ही जचेंगे। दौडते हुए, कूदते हुए।" विश्वकर्मा ने सुझाव दिया। ब्रह्मा हंसे। चारों मुहो से। हंसी चारों दिशाओ मे फैल गई।

"तुम्हारा प्रस्ताव तो ठीक है। इस वीरान धरती पर बहार आ जाएगी, पर खिलौने कही धरती पर खलबली न मचा दें। विष्णु कहीं उलाहना न दें कि बुड्ढे ब्रह्मा ने धरती पर पगा खड़ा कर दिया," प्रजापति विचारों मे डूब गये।

"विष्णु महाराज तो बडे ही खुश होंगे। उन्हें तो खुद ही खिलौनो का बड़ा शौक है।" विश्वकर्मा ने कमेंट किया।

"अरे, तुम क्या समझो विश्वकर्मा, केवल हथौडी ठोकते रहे हो। उसे तो एक ही खिलौना पसंद आ गया था—लक्ष्मी। शायद सोचा होगा कि

गुड़िया है, खूब खेलेंगे। परन्तु उसे क्या पता था कि गुड़िया गजब ढा देगी और विष्णु खुद खिलौना बन जाएगा और उसके इशारे पर नाचेगा। अब तो जो खुद खिलौना बना हुआ है वह क्या खिलौनों से खेलेगा!"

"तीन बडो की बात है, मैं क्या जानू। परन्तु इन खिलौनों में चाबी भर दो। मेरी तो यही हाथ जोड़कर प्रार्थना है।" विश्वकर्मा बोले।

"तथास्तु। सब में चाबी भर जाये," प्रजापति ने स्फूरणा की। बस फिर क्या था? ब्रह्मा की इच्छा पूरी हुई।

"अब देखो इन खिलौनों को, सबके सब गतिशील व गतिमान। कैसा लगता है यह सारा नजारा, जरा अपने कमेंट्स दो। तुम्हें अपने कमेंट्स खुलकर देने हैं। तुम महान कारीगर हो, सारे देवताओ को तुम्हारे पर नाज है। हां, तो बोलो, कोई एडीशन, आल्टरेशन की बात है तो अभी किये देता हूं, तुम जानते हो मुझे नींद आ रही है और तुम जानते हो मेरी रात का मतलब होता है चार युग—सतयुग से कलियुग तक एक ही स्ट्रैच मे।" ब्रह्मा ने विश्वकर्मा के मुखातिब होकर बात कही।

"बड़ों की बात बड़ी होती है," विश्वकर्मा ने बात पर सम्पुट बैठाने की कोशिश की।

"विष्णु ने सारे देवताओं को चापलूस बना दिया, अब उन्हें स्तुति और स्तोत्र कहने के सिवा कुछ नहीं आता, परन्तु तुम तो कर्मी हो, विश्वकर्मा! देवताओं के कारीगर। तुम भी चापलूस। तुम्हे चापलूसी फबती नही," ब्रह्मा ने विश्वकर्मा की ओर देखा, गुस्से से ब्रह्मा की दाढ़ी हिल रही थी। विश्वकर्मा कुछ सहमे और जल्दी ही अपने को संभाल लिया और फिर बात का छोड़ा हुआ धागा पकड़ लिया।

"हां, तो महाराज! आप खिलौनों के बारे मे पूछ रहे थे। इस बारे में पितामह, मेरे सुझाव व कुछ शंकाएं हैं।

"आपने ये खिलौने बनाये। पाच टांग वाला यह खिलौना..."

ब्रह्मा को हंसी आ गई और बीच में ही बोल उठे, "पांच टांग वाला खिलौना नही, यह तो सूंड है। यह हाथी है। टांगें तो चार ही। सूंड तो मेरा 'आफ्टर थॉट' है। मैंने इसे भीमकाय बनाया। बड़ा ही शक्तिशाली, शक्ति का मापदण्ड। कोई बल मापेगा तो कहेगा, सौ हाथियो का बल

हजार हाथियों का बल। पर मैंने इसकी गर्दन बनाई छोटी-सी। मुझे ख्याल आया कि यह तो बेचारा बैठ ही नहीं सकेगा। अगर कहीं गिर गया तो फिर खड़ा नहीं हो सकेगा। लीवर कहां से आएगा। मुझे बड़ी हंसी आई अपनी बुद्धि पर तथा थोड़ी शर्मिन्दगी भी महसूस हुई, यह सोचकर कि देवता लोग हंसेंगे। विष्णु की आदत तुम जानते हो। उसको तो कोई बहाना चाहिए। वह तो झट से कह उठेगा कि 'बुड्ढे की मत मारी गई। देखो यह खिलौना, इसमें 'सेंस ऑफ प्रोपोर्शन' ही नहीं। सारे चापलूस देवताओं की जमात भी खिलखिलाकर हंसने लगेगी। इन देवताओं की बातों से मतलब नहीं। विष्णु हंसा, यह हंसे। इन देवताओं का देवत्व मैं खूब जानता हूं। सारे के सारे पिट्ठू और पिछलगू। सच माने में यह लोग विष्णु के 'यसमैन' हैं। सारे के सारे चुगलखोर। इनका न स्वतंत्र अस्तित्व है और न सत्ता में साझेदारी। विष्णु निरंकुश है। ये देवर्षि के बच्चे बनते हैं, परन्तु इनको जरा-सा कुरेदो तो साफ नजर आने लगेगा कि ये सारे के सारे चुगल, स्वार्थी और थोथे। यह स्वर्ग नरक से भी बदतर बना दिया है।" कहते-कहते ब्रह्मा के चारों मुख के नथुने फूल गए।

विश्वकर्मा को पहली बार महसूस हुआ कि इन तथाकथित तीन बड़ों में भी मनमुटाव है और ये भी एक-दूसरे से रश्क करते हैं। केवल बाहर से एक दिखाई देने वाली त्रिमूर्ति अन्दर से खोखली है। एकता तो केवल 'फसाड' है, दिखावा है। हकीकत तो यह है कि सत्ता को साझे में कोई नहीं भोगना चाहता, देव हो या अदेव। परन्तु बड़ों की लड़ाई में नहीं फंसना है, इसमें खतरा है। इस ख्याल मात्र से विश्वकर्मा को पसीना आ गया। बात का रुख बदलने के लिहाज से, विश्वकर्मा बोले—

"तो पितामह, आपने सूड़ लगाकर हाथी को 'लीवर' दे दिया। वह अब बैठ सकता है और खड़ा हो सकता है। आपने सूड़ चेपकर विधाता के पद की गरिमा ही बढ़ाई है। अब कोई नहीं जान सकेगा कि विधाता ने कभी कोई चूक की थी।" विश्वकर्मा ने बात को नया मोड़ दिया।

"जब मैंने ऊंट बनाया तो इस बात को मद्दे-नजर रखा," ब्रह्मा के ओठों पर मुस्कराहट दिखाई दी।

"ऊंट वाला खिलौना तो मास्टरपीस है, पितामह!" विश्वकर्मा ने

चलते में बात चेप दी।

ब्रह्मा खुश नजर आ रहे थे।

"महाराज, इजाजत दें तो मैं अपनी एक शंका को स्वर दे दूं," विश्वकर्मा डरते-डरते बोला।

"बोलो, क्यों नहीं," ब्रह्मा की दाढी ऊपर-नीचे हिली।

"महाराज। आपने दो टांगों वाला खिलौना जो बनाया है..."

"हां-हां, आदमी," ब्रह्मा बोले।

"आदमी को दो टांगें दीं और वे भी पतली-पतली। हाथ बिलकुल खाली। इस डिजाइन के पीछे आपका मकसद क्या था? इसकी पतली चमड़ी में सर्दी और गर्मी सहन करने की क्षमता नहीं। यह बेचारा हाथी, घोडा, सिंह, ऊंट, मगरमच्छ जैसे खिलौनों के बीच कैसे रहेगा? यह खिलौना तो जल्दी ही टूट जाएगा, मिट्टी में मिल जाएगा। कहीं हाथी वाली बात तो नहीं है। यदि आप उचित समझें तो डिजाइन में तब्दीली कर ली जाए, मेरी सेवाएं आपके चरणों में हाजिर हैं।"

"तुम भी आ गए ट्रेप में, देवताओं का सर्वोच्च अभियन्ता भी चक्कर में। खूब, खूब!"

प्रजापति खूब ही खिलखिलाकर हंसे। उनका नाभि-कमल भी बुरी तरह हिलने लगा मानो कोई भूकम्प आ गया हो। विश्वकर्मा दंग। पूरी बात समझ नहीं सके। घबरा गए।

"पितामह, मैं आपके सामने तो एक अज्ञानी और अदना-सा व्यक्ति हूं, परन्तु मैंने क्या कोई गलत बात कह दी, जान-अनजान में कोई गलती हो गई हो तो मैं क्षमा-याचना करता हूं, परन्तु मूलत. मैं बात समझा नहीं," विश्वकर्मा ने अनुनय-विनय के स्वर में बात कही।

"देखो विश्वकर्मा, यह खिलौना दो टांग वाला और दो हाथ वाला, देखने में बहुत ही कमजोर और टूटने वाला लगता है। तुम्हें मालूम रहे, मैंने सबसे बाद में बनाया है और खूब सोच-समझकर। जब मैं इसका रचना-कार्य कर रहा था तो बड़ा ही बेचैन और क्षुब्ध था। मैं तुम्हें एक राज की बात बताए देता हूं। तुम जानते हो कि यह त्रिमूर्ति की संस्था कितना बड़ा ढकोसला है और इसके पीछे कितनी बड़ी साजिश है। मूल

योजना तो यह थी कि एक सामूहिक जिम्मेवारी, एक 'कलेक्टिव लीडरशिप' हो, परन्तु विष्णु ने किस प्रकार अपने आपको सर्वोच्च साबित करने के लिए क्या नहीं किया ? शंकर तो सचमुच में भोला है। उसे तो 'एक्टिव पावर पोलिटिक्स' से अलग कर दिया। झांसे में लाकर उसके कपड़े तक उतरवा लिये। बाघंबर पहिना दी। सच पूछो तो शरीफ और भोले व्यक्ति का जमाना नही है। मूलरूप से यह समझो कि शिव के अहम को या उस भोले स्वभाव को इक्सप्लोयट किया गया। केवल चटपटी भाषा में कहा गया कि शिव योगीराज है, कामजीत है। शिव फूलकर कुप्पे हो गए। सती बेचारी बोले क्या ?

"शिव जैसे भोले-स्वभाव के महादेव (केवल शब्दों में) विष्णु की चाल को क्या समझें ?

"मुझे बुड्ढा साबित करके एकदम देवताओं से अलग-थलग कर दिया। लगातार चरित्रहनन की प्रक्रिया चलती रही और वह भी इस तरह कि देवताओं में मेरा कोई अनुयायी नही रहने दिया। मेरी कहीं मूर्ति लगने नहीं दी। मेरा घर फांटकर रख दिया, ब्रह्माणी मुझसे रुठ अलग जा बैठी। नतीजा यह हुआ कि त्रिमूर्ति तो नाम मात्र की रह गई।

"समुद्र-मंथन के लिए देव और दैत्यो को उकसाया गया। जब कालकूट निकला तो आप किनारा कर गये और सूली चढ़ने के लिए कौन ? बेचारे शिव। मुझे याद है, शिव को किस तरह फुसलाया गया और जहर पीने के लिए उन्हे रजामंद किया गया। फुसलाकर। आखिर वह जहर उनको पिला दिया गया। बेचारे शिव के कंठ नीले पड़ गये और वे सदा के लिए नीलकंठ बन गये।

"परन्तु जब चौदह रत्न निकले तो आप सबसे आगे। लक्ष्मी को देखा तो बोले—यह तो मैं लूंगा। डर के मारे कोई देवता नही बोला और दैत्यों को आंखें दिखा दी। मुझे तो हैरत होती है इन देवों के व्यवहार पर। उन्हें 'देव' कहना देवत्व का अपमान है। परन्तु जिन्होंने झुक-झुककर स्तोत्र-स्तुतियां पढ़-पढ़कर देवत्व प्राप्त किया हो, वे न्याय के लिए लड़ नहीं सकते। उनमें न आत्मबल, और न आत्मा की आवाज जैसी कोई चीज।

"अगर जरा-सी भी आत्मतेज व न्याय के लिए लड़ने की हिम्मत होती तो वे फौरन बगावत का झण्डा खड़ा कर देते और एलान कर देते कि जिन्होंने समुद्र-मंथन किया है वे इसके हकदार हैं।

"परन्तु कौन बोले ! विष्णु लक्ष्मी को लेकर अलग हो गये और बड़ी बेशर्मी से घोषित कर दिया कि लक्ष्मी मेरी पत्नी है।

"चलो, यहीं तक ही बात ठहर जाती तो भी हम आई-गई कर देते, परन्तु जब आप लक्ष्मी के चक्कर में इस तरह फंस गये कि त्रिमूर्ति की संस्था तक बदनाम है, लक्ष्मी समुद्र की बेटी और वह अपना पीहर नहीं छोड़ना चाहती तो आप भी समुराल चले गये। समुद्र मे एक 'विला' बना लिया और वहीं रहने लगे और कुछ नागों को साथ ले लिया, शेषनाग उनका रिंग लीडर। इन नागों के साये में अपने समुद्री विला मे पड़े रहते हैं और आजकल लक्ष्मीरमणा कहलाने में अपनी शान समझते हैं। इन देवों को देखो, स्तुति में संशोधन कर लिया 'जय लक्ष्मीरमणा।' क्या बात हुई ! पर इनकी बुद्धि का दिवाला निकल गया। ये हमारे देव !

"लक्ष्मी के सम्पर्क में आने के बाद तो विष्णु के तो हालचाल ही बदल गये। इस स्वर्ग का क्या हाल होगा ? स्वर्ग की स्थिति बिगड़ती ही जा रही है, स्वर्ग में कौन आना चाहेगा और ऐसे स्वर्ग मे आकर कोई करेगा ही क्या ? स्वर्ग की पहली शर्त है कि वहां सुशासन हो परन्तु जहां की सत्ता ही अपने-आप मे विच्छिन्न और अराजकतापूर्ण हो, वहा कैसा स्वर्ग! यहां का राज्यपाल इन्द्र अपने-आपमें करप्ट है। हर देवता के मुह पर नाम है तो किसी रम्भा या मेनका का है। देवों मे चुगली और चापलूसी बढ रही है। पर विष्णु को तो अपने समुद्री महल से निकलने की फुरसत ही नहीं। ये सब लोग 'रमणा' सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए हैं। अब नये सम्बोधन चलेंगे, रम्भारमणा, कोई मेनकारमणा। जब बुद्धि पर पर्दा पड़ता है तो पड़ता ही जाता है।

"मुझे जिस प्रकार अपमानित किया गया, मैं इस अपमान के घूंट को पीकर रह रहा हूं, यह मेरा ही जी जानता है। यह जलालत-भरी जिन्दगी मेरा खून खौल उठता है। परन्तु मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि ये देव-गण तो पूर्णतया नपुंसक हैं। ये तो हर प्रकार के अपमान व अन्याय

सहन कर सकते है । मैं सीनिओरिटी में विष्णु से किस बात मे कम हूं।

"मैं जब वह खिलौना बना रहा था, तब मैं इस प्रकार की मानसिक उधेड़-बुन में लगा हुआ था । कहने को मैं पितामह, पर मेरा कोई ठौर या ठिकाना नही रहने दिया । मैं स्थानभंग व मानभंग की स्थिति मे ही जीऊ, मेरे लिए विकल्प नही छोड़ा । प्रतिशोध की इस भावभूमि में, प्रतिहिंसा, घृणा और सत्रास की इस पृष्ठभूमि मे मैंने यह खिलौना बनाया ।

"मेरा यह खिलौना आदमी कहलायेगा । पतली टागों से वायुवेग से दौड सकेगा, इसके वेग के सामने गरुड़ झख मारेगा । मैंने सारी चीजें इसके दिमाग में भर दी है । इसके दिमाग के कोने मे खुराफात का एक खजाना बना दिया है, वह खुराफात घड़ता रहेगा ।

"वह इन कमजोर हाथो से पहाड़ उठा सकेगा । लाखों हाथियो का बल उसमें होगा । वह हवा मे उड़ सकेगा, समुद्र में तैर सकेगा । आग में जलेगा नही । वह हाथी पर सवार होगा, घोड़े पर सवार होगा । वह बिना पैरों भागेगा । पानी बिजली उसके वश में होंगे ।

"मेरा यह खाक का पुतला खलक में खलबली मचा देगा । मैंने अपने सारे द्वेष, प्रतिहिंसा, ईर्ष्या वगैरह की आग उसके दिमाग मे रख दी है। ये हैं मेरे जीन्स । मेरा यह पुतला विष्णु को ललकारेगा, उसका वहम निकाल देगा, डिफाई करेगा । इन देवताओं का मानभंग करेगा, लक्ष्मी इनकी चेरी बन जाएगी और विष्णु टापता रहेगा ।

"यह खाक का पुतला चुनौती देगा । विष्णु के अगर छक्के न छुड़ा दे तो मुझे विधाता न कहना । उसको लेने के देने पड जाएंगे । यह आग उगलेगा ।

"मैंने अपनी सारी प्रतिहिंसा उसके दिमाग मे रख दी । मैंने अपना सारा रोष उसके दिमाग मे रख दिया है । यह है मेरी विरासत ।

"रोष और प्रतिशोध की मन:-स्थिति मे बनाई हुई प्रजा से अन्य तरह की अपेक्षा ही नही की जा सकती ।

"परन्तु मुझे एक भय जरूर है," कहते-कहते ब्रह्मा गभीर हो गया।

"वह क्या है ?" विश्वकर्मा ने मौन भंग किया ।

"घृणा, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, रोष का ओवरडोज अन्य प्रकार से भी

रिएक्ट कर सकते हैं।

"खाक के पुतले आपस में भी लड़ सकते हैं, अगर उन्हे लड़ने का अन्य बहाना न मिले तो।"

"महाराज बात को कुछ और स्पष्ट करो।" विश्वकर्मा ने उत्सुकता दिखाई।

"अब तो मेरी रात होने जा रही है, मुझे नींद आ रही है इसलिए इतना समय नहीं कि मैं तुम्हें पूरी बात समझा सकूं। मेरी आंखों में नींद घुल रही है। परन्तु भयंकर आक्रोश, संत्रास की मनःस्थिति में बनाए गए इस मनुष्य नामधारी पुतले के दिमाग मे मैंने अपने मनोभाव पूर्णतया आरोपित कर दिए, सम्पूर्ण तीव्रता व तिक्तता के साथ।"

"महाराज, यह तो गजब हो गया, पुतले आपस में लड़ेंगे।" विश्वकर्मा बोला।

"कुछ भी समझो, मेरे दिमाग में अब कुछ नही है, मुझे नींद आ रही है।"

"कुछ सुधार करो।"

"ज ग ने प र दे खें गे।"

"इस बीच तो चार युग बीत जाएंगे।" ब्रह्मा खर्राटे भरने लग गया।

"कुकड़ू कू।"

"यह तो ब्रह्मा का खिलौना बोल रहा है, ब्रह्मा नही।"

ब्रह्ममुहूर्त हो गया, पर ब्रह्मा सो रहा है। ब्रह्मा की रात चल रही है, चलेगी। प्रलय-पर्यन्त। विश्वकर्मा उठा, चल दिया, विष्णु के यहां पेशी जो है।

भोमियो जी का मन्दिर

बस ठहरी। मुझे उतरना था। यहां से गांव कोई तीन कोस। मीलों में कोई छः मील। मई-जून के महीने मे छः मील की यात्रा भी अपने-आप में भयंकर कसरत है। हवा मे इतनी गर्मी होती है कि ऐसे समय मे यात्रा करने का मतलब होता है आग की लपटों के अन्दर से गुजरना। रेत इतनी गर्म हो जाती है कि आप रोटी सेंक लो।

मैं बस से उतरा उस समय कोई आठ बजे का टाइम होगा। तीन कोस की यात्रा के लिए कम-से-कम दो घण्टे तो चाहिए। बस मे उतरते ही मुझे फिक्र इस बात की थी कि कोई ऊंट मिल जाए। रेत में जहा और कोई सवारी नही जा सकती, वहां ऊंट ही जा सकता है। गाडी धंस जाए। घोडा गडबडा जाए।

दो-चार जगह से पूछने पर मालूम हुआ कि वैसे तो कोई जाने को तैयार नही होगा और हो भी गया तो ऊट का भाडा लेगा 'हाड फोड-कर'। मैं इसके लिए तो तैयार था क्योंकि ओखली में सिर रख देने के बाद मूसल से नही डरना चाहिए, यह बात तो मैंने अनुभव से बहुत पहले सीख ली थी। परन्तु ऊट तो मिले। अगर कुछ देर तक कोई ऊंट नही मिला तो सूरज सिर पर आ जाएगा। ऐसे वक्त मे तो लोग मुर्दे को भी बाहर नहीं निकालते। बस, यही चिन्ता मेरे सर पर सवार थी।

मुझे एक ने बताया कि एक ऊंट लालासर का आया हुआ है और लालासर से मेरा गाव कोई एक कोस ही रहता है। अगर वह आदमी तैयार हो जाए तो मेरा काम आसानी से बन सकता है। मैं बात कर ही रहा था कि मुझे वह आदमी सामने आता हुआ दिखाई पड़ा। मुझे बताया

गया कि यह है वह आदमी। बात कर लो।

मैंने उससे रामरमी की और बाद 'रामरमी' वह बोला, 'चलो।' भाड़े के लिए उसने अपनी तरफ से कोई पेशकश नही की। वह मेरी पांच रुपये की ओफर पर तैयार हो गया।

उसने ऊंट को बैठने का संकेत दिया। ऊंट बैठ गया और उसकी थोड़ी-सी मदद से मैं ऊंट पर सवार हो गया। मेरे लिए ऊंट की सवारी का कोई नया अनुभव नहीं था, परन्तु काफी अर्से के बाद ऊंट पर सवार होने के कारण सवारी के अनुभव को नवीनीकरण करने की खुशी तो थी ही।

गाव से निकलते ही उसने ऊंट को एक डगर पर डाल दिया और साथ में चल रही थी एक पक्की सड़क, जिस पर पत्थर सर उठाए हुए पड़े थे, शायद रोलर फेरने की स्टेज ही नही आई हो।

"तुम्हारा नाम क्या है?" मैंने पूछा।

"कालू।"

"जाति?" मेरा दूसरा सवाल था।

"मेघवाल।"

मैंने कालू के मुंह की तरफ गौर से देखा।

"क्यों, क्या देख रहे हो? मेरे साथ चलने में कोई आपत्ति तो नहीं है? अभी तो गांव से निकले ही हैं।" कालू बोला।

"आपत्ति काहे की? मैं तुम्हारी बात समझा नहीं, कालू!" मैंने कालू के मुंह की तरफ फिर देखा।

"यही कि मेघवाल हूं, चमार हूं और आपको मेरे साथ चलने में कोई दिक्कत हो, मन में ग्लानि हो। मैंने आपसे कुछ नहीं छिपाया, न तो मन की बात और न अपनी जाति।" कालू ने अपना स्पष्टीकरण-सा पेश कर दिया।

"नही, नही, ऐसी कोई बात नहीं, मैं तो यह पूछ रहा था कि सड़क कब बनी?"

"क्या आप इसे सड़क कहेंगे? यह पत्थर तो पिछले साल डाले गए। अकाल सहायता राहत-कार्य में यह सब कार्य हुआ। ये रेत भी डाली गई। बालू के महल की तरह यह बालू की सड़क बनाई गई। परन्तु इस

सड़क बनाने मे लोगो ने तबियत भरकर रेत खाई। बड़े-बड़े आदमियों ने तो तबियत भरकर रेत खाई। हम गांव वालों ने भी थोड़ी-बहुत रेत खाई, पर गांव वालों तथा गरीब आदमियों को बड़े आदमी रेत खाने नहीं देते, उनका पेट बडा होता है। बडे लोग ही भाटे और पत्थर खा जाते हैं और मजे की बात यह है कि ये लोग भाटे-पत्थर-रेत सब हजम कर जाते हैं, डकार तक नही लेते। हम लोग देखते रहते हैं और हमसे कोई कोशिश करे तो खाने नहीं देते। गरीब आदमी तो जूते खाने पैदा होता है, कभी-कभी धक्के भी खाते हैं, परन्तु ये बड़े लोग धूल-पत्थर कंकर खाते हैं। किस्मत मे लिखाकर लाये हैं।" कालू ने एक लम्बी सांस खींची।

मैंने फिर कालू की ओर देखा। उसकी आंखों मे देखा। मुझे लगा कि कही गलत सहयात्री का साथ तो न कर लिया। मुझे जरा आशंका भी हुई और दिमाग के एक कोने में भय का सचार भी हुआ कि कहीं मेरा 'फेलो ट्रैवलर' दिमाग व इरादों से तो दुरस्त है। निर्जन स्थान में एक अजनबी का साथ अपने साथ मे कुछ आफतें भी ला सकता है। परन्तु ज्यों ही मैंने उसकी आख मे आख डालकर देखा तो उसकी पुतलियो मे एक चमक दिखाई पड़ी। कालू हंस पड़ा।

"तुम क्या कह रहे हो? मैं तुम्हारी बात समझा नही।" मैंने सवाल किया।

"समझा तो मैं भी नही सकता, बाबू साहब! मैं तो बात बता सकता हूं और बात यही है, इसमें फर्क नही।" कालू बोला।

"बता सकता है वह समझा भी सकता है।" मैंने जिरह शुरू कर दी।

"यह जरूरी नहीं, बाबू साहब!"

"यह कैसे?"

"यह ऐसे, आज गर्मी पड़ रही है, हम लोग कहते हैं 'लाय' पड़ रही है। मैं यह जानता हूं। पर आप पूछो कि यह लाय क्यों पड़ रही है? तो मैं आपको समझा नही सकता। बस यही बात यहा लागू है। अगर आप समझना चाहते हैं तो आप जाइए बड़े दफ्तर मे जहा पाई-पाई का हिसाब कागजों मे लिखा है कि इतनी रेत पड़ी है, इतने पत्थर पड़े हैं। कागज पर रेत पडी है, तो जमीन पर क्यों नहीं पडी? आप बड़े अफसर को साथ

लाइए और उससे कहिए कि अपने कागज साथ ले चलिए। फिर यहां लाकर उसे कहिए कि मिलान करो कागज की रेत का और जमीन की रेत का। कागज पर पड़ी है दो लाख क्यूबिक फीट रेत और जमीन पर है पचास हजार क्यूबिक फीट। यह डेढ़ लाख क्यूबिक फीट रेत कहा गई? जमीन पर तो है नहीं। कोई न कोई तो इस रेत को खा ही गया होगा। हो सकता है कि अकेला आदमी इतनी रेत नहीं खा सकता तो मिलकर खा गये होगे। रेत तो खाई गई है। कुछ दूर तक ये पत्थर डाल दिये। जैसे दफ्तरों मे कागजों पर कुछ रख देते हैं कि कागज उड़ न जाए। बस, इसी तरह इस रेत पर ये भाटे रख दिये ताकि यह रेत उड़ न जाए।

"कागज मे रेत नहीं उड़ती चाहे कितनी ही आंधियां आएं, तूफान आए। अलबत्ता कागज उड़ सकता है। अगर कागज उड सकता है तो रेत भी उड़ सकती है, इसलिए कागज को बांधकर रखते है, लपेटकर रखते हैं। अब सारा काम कागजी।

"कागज मे नहरें बहती है, पर कागज गलता नही, यह कागज बनाने वालों की तारीफ है। पर कागज में सड़क दौड़ती है। कागज में कुछ लाइनें खीची कि सड़क बन गई। यह काम रोजमर्रा करते है। कागज में सडक बनाने में एक्सपर्ट हैं। पर जब जमीन पर सड़क बनाने का काम पड़ता है तो उनको एक दिक्कत आती है, कागज मे तो चार आदमी ज्यादा लगाए तो उनका काम निकालने के लिए एक मशीन है जो जोड़-बाकी लगा देती है। काम पूरा हो जाता है, आदमी चाहे बैठा रहे। परन्तु जमीन पर हिसाब गड़बड़ा जाता है। सड़क पर काम करने वाले मजदूर ताश खेलने लग जाते हैं, मेट चौपड़ खेलने लग जाते हैं, इंजीनियर और ओवरसियर सिनेमा या शोपिंग करने चले जाते हैं तो सड़क भी ठहर जाती है, आगे चलती नहीं। शाम को ओवरसियर आता है, "लोगबुक' भर देता है। जमीन की सड़क चली कि नहीं, वह परवाह नही करता'''"

कालू तो शायद रुकने का नाम ही नही लेता, परन्तु जब ऊंट रुक गया तो उसको खयाल आया कि वह ऊंट पर सवार है। उसने टिच-टिच की, पर ऊंट हिला नहीं।

"क्या बात हुई?" मैंने पूछा।

"चोड़' कर रहा है। आज सुबह मे उसने 'चोड़' की ही नहीं।" कालू ने जवाब दिया। मैंने उसकी तरफ देखा और वह शायद मेरी मन की बात समझ गया, बोला।

"पेशाब कर रहा है ऊट। क्यों, ऊंट को विठलाऊं, आपको भी कोई हाजत हो।" यह कहते हुए उसने झट से बागडोर के कुछ अर्थपूर्ण झटके लगाए और ऊंट बैठ गया। मैं उतरा और कालू भी।

मैं तो अपनी शंका का शीघ्र ही निवारण करके आ गया। कालू ने कुछ सूखे तिनके इकट्ठे कर रखे थे, मुझे सहज कुतूहल हुआ और पूछ बैठा, "यह क्या हो रहा है, कालू ?"

'देखो, नाई नाई बाल कितने कि सामने आ जाते हैं। अभी सामने आ जाते है।" उसने तिनकों मे आग लगाई। अपने पैर के अंगूठे और अगुली के सहारे से थमाई हुई चिलम में अंगारे रखे, चिलम के छोटा-सा कपडा लपेटा और जोर से दम खीचा और उसका मुंह धुएं से भर गया।

"आप बीड़ी-सिगरेट नही पीते क्या, बाबू साहब!" उसने एक जानकारी चाही।

"नही।" मैंने जवाब दे दिया।

"तो, चलो बैठो ऊंट पर, सूरज सिर पर आ जाएगा।"

"पर तुम्हारी चिलम तो पूरी हुई ही नही।"

"इसकी फिकर मत करो, ऊंट पर ही पी लूंगा।"

हम दोनो ऊट पर सवार। कालू ने दोनो टांगें एक तरफ कर ली। वह अपनी चिलम का कश भी खीचता जाता और टिच-टिच भी करता जाता।

"क्यो कालू, क्या हम अब सड़क के साथ-साथ नही चलेंगे?" मैंने अपनी सूचना के लिए बात पूछ ली जैसे हम रेलवे इन्क्वारी से पूछते हैं।

"यह सड़क चाहे साथ-साथ चले या अलग चले, कोई फर्क तो पड़ता नही। सड़क पर तो कोई चल नहीं सकता। आदमी पैदल चले तो अव्वल तो उसे हाथ मे दूसरी जोड़ी जूतों की लेकर चलनी चाहिए।"

मुझे जरा हंसी आ गई।

"बाबू साहब! हंसते क्या हो, जरा आजमाकर देख लो। इसपर न

कोई बैलगाड़ी चल सकती है, न कोई भैंसागाड़ी और न कोई ऊंटगाड़ी।" कालू के मुंह से बात भी निकली और चिलम का धुआं भी।

"पर कच्चे रास्ते से तो ठीक ही होनी चाहिए।" मैंने कहा।

कालू को मेरी बात पर हंसी आ गई या कोई चिलम के धुएं ने फेफड़ों में कोई 'इरीटेशन' पैदा किया हो। खुलखुलाते हुए बोला, "देखते हो अपना ऊंट। इस कच्चे रास्ते से तो हजारों ही बार चल सकता है, परन्तु इस सड़क पर इस ऊंट को डाल दो, इसके पैर छिल जाएंगे। ऊंट के साथ जोर या जबर्दस्ती करो तो ऊंट टूट जाएगा। आज ऊंट के ढाई हजार रुपये लगते हैं, आज ऊंट खरीदना तो हवाई जहाज खरीदना है।" कालू ने बात खतम ही नहीं की थी कि मुझे हंसी आ गई और मैंने पूछा।

"क्या तुम्हारे हिसाब से हवाई जहाज की कीमत ढाई हजार होती है?"

"देखो जी, यह तो बात की बात है। ढाई हजार नहीं तो पांच-दस ऊंट की कीमत लगती होगी, और क्या हाथी की कीमत लगती होगी?"

मुझे बड़े जोर की हंसी आ गई। कालू सहमा और उसे लगा कि उसने बहुत ही अटपटी बात कह दी। सफाई देने लगा।

"देखो बाबू साहब, सही कीमत तो उसको पता हो जिसने कोई चीज मूल्याई हो, पर गांव नहीं जाएं तो 'गेला' क्यों पूछें? हमें हवाई जहाज से क्या लेना-देना? जब कभी हमारे गांव के ऊपर से भनभनाहट करता हुआ जाता है तो हम सब लोग ऊपर की थोर मुंह फाड़कर देखने लगते हैं। भू-भो तो बड़ो जोर की होती है, परन्तु लगता तो ऐसा है जैसे कि कोई उड़नखटोलो। लोग कहते हैं कि इसमें गांव का गांव आ जाता है। मेरी तो समझ में नहीं आता कि ऐसे कैसे हो सकता है। फिर सोचता हूं कि मुझे तो इसमें बैठना नहीं, फिर अपनी बला से कैसे ही हो। अपना तो यह ऊंट ही हवाई जहाज है। जब यह जोर से भागता है तो हवाई जहाज जैसे ही हीण्डे आते हैं।"

"यह तो ठीक है, कालू! पर मैं तो कह रहा था कि हवाई जहाज कोई हाथी थोड़ा ही है? क्या तुम सोचते हो कि हाथी हवाई जहाज से महंगा होता है?"

"इसमें क्या दो राय है, बाबू साहब ? हाथी तो मरा हुआ भी नौ लाख का होता है, फिर जीते जी तो उसके मोल का कोई क्या अन्दाज लगा सकता है ? आपका हवाई जहाज टूट जाए तो ठूंठा हो जाता है, एक टका नहीं बटता । लोग कहते हैं कि हवाई जहाज मे कोई गिर जाता है तो एक फायदा जरूर होता है ?..."

मैं उछला, "गिरने से क्या फायदा होता है ?"

"मरने वाले की हड्डी हरिद्वार भेजने की जरूरत नहीं होती। हरिद्वार आने-जाने का खर्चा तो बच ही जाता है, मरने वाले को तो मरना ही पड़ता है, मौत की घड़ी तो टलती ही नहीं । विधाता ने छठी के रोज जो लेख लिख दिए, वे तो लोहे की लकीरें हैं । टाले टल नहीं सकती। परन्तु हरिद्वार के आने-जाने का खर्च भी आज की महंगाई मे मार देता है। यह तो मैं भुगतभोगी हूं । पिछले साल मैं अपनी मां के फूल लेकर गया। बडी मुसीबतो के साथ पहुंचा, मां को गले में लटकाए हुए । मेरी मा को भी मैं मरजी मुवाफिक गंगा मैया के साथ कर दूं, आजादी नहीं थी। हरिद्वार मे पण्डो का राज है । उनसे पूछो कि फूल कहां फेंकें । कब फेंकें ? साथ में क्या फेंकें ?

"कहने को तो हम आजाद हैं, पर हालात ऐसी हैं कि आजादी नही मरने की। अपनी इच्छा चलती नही । आजादी नहीं है अपने मरे हुए पुरखों की हड्डिया फेंकने की भी । हर काम में अडचन है। कही राज का नियम आगे अड जाता है तो कहीं समाज का नियम अड़ जाता है। राज में राज के पण्डे ही पण्डे जगह-जगह । सबकी माजने अनुसार भेंट-पूजा करो, उधर समाज के पण्डों की पूजा करो । यहा भी पण्डे ही पण्डे हैं। तीर्थों मे पण्डे, शहर में पण्डे, गांव में पण्डे । कोई एम०एल०ए० तो कोई पंच, सरपंच, न्याय पंच; ये सारे के सारे पण्डे हैं। जो दूसरो को पीड़ित करे, वह पण्डा होता है । हरिद्वार मे मेरी तथा मेरी मां की जो हालत हुई उससे तो मुझे ऐसी ग्लानि हुई कि मैं कुछ कह नहीं सकता । कई बार जी में आया कि इससे तो अच्छा यह होता कि मैं मां की राख को अपने घर मे ही गाड़ देता और रोज उस जगह की धोक खा लेता ।

"मैंने बहुत कुछ देखा, पण्डों का व्यवहार देखा। चील जैसे बड़े पर

झपटती है, वैसे ही उनका झपटना देखा। ऐसे पीछे लगते हैं जैसे कि कोई पिछले जनम के मांगतोड़े हैं।

"खैर, मां की इच्छा थी। उसकी यह इच्छा वैसे ठीक भी थी। बेचारी जिन्दगी भर इन घोरों में भटकती रही। भूखी-प्यासी। कभी कुछ खा लेती तो कभी 'रावड़ी' से कान चेपती रही। उसने सोचा होगा कि जीते-जी तो सुख देखा नहीं। भूख और कर्ज के दबाव से मर गई परन्तु मरने के बाद उसकी राख तो गंगा मइया के साथ मिलकर काशी-प्रयाग वगैरह के दर्शन कर ले। मरने से पहले उसने अपनी बात कही, डरते-डरते। उसने मुझे मोहलत भी दी। हालांकि कर्ज देने वालों ने उसे बार-बार मांगने पर भी कभी मोहलत नहीं दी थी। पर जो जिन्दगी-भर मोहलत की मोहताज रही, उसकी दरियादिली देखिए। वह मुझसे बोली, 'बेटा, अगर तुम्हें रकम न जुड़े तो खेजड़ी के नीचे मेरी राख रखी रखना। बारह-छः महीने की कोई बात नहीं। मैं इन्तजार कर लूंगी। 'अन्त-पन्त' मुझे हरिद्वार जरूर पहुंचा देना।' मेरी तरफ से 'हां' सुनके ही हाथ फैला दिये।

"मुझे तो ऐसा लगा कि 'जम के दूत' राज के सिपाहियों की तरह हथकड़ियां लिये हुए खड़े होंगे और वह उनसे गिड़गिडाकर कह रही थी जैसा कि उसने सारी जिन्दगी-भर केवल गिडगिड़ाने की भाषा सीखी थी, उनसे कुछ मोहलत मांगी होगी और ज्योंही मैंने हां कह दी, उसने हाथ फैला दिये। जम के दूतों ने उसे हथकड़ियां पहना दी होंगी। मैं तो इसको इसी प्रकार लेता हूं। जम के दूत तो हरेक को दिखाई नहीं देते, सिवाय मरने वाले को, लोग ऐसा कहते हैं। मैं झूठी गंगाजली क्यों उठाऊं। पर अगर यह बात सच है तो मैं इतनी बात जरूर कह सकता हूं कि जम के दूत हमारे सरकारी सिपाहियों से ज्यादा दयालु हैं। अगर इन दूतों के बजाय जमराज इन सरकारी सिपाहियों को यह काम सभलवा देता तो ये लोग मेरी मां और मेरे बीच पूरी बात नहीं होने देते। इनमें न तो सब्र है, न सहानुभूति।

"मैंने बारह-छः महीने इन्तजार नहीं किया। गिड़गिड़ाकर कर्ज की परत मोटी कर ली। मां को हरिद्वार पहुंचा आया। गंगा मैया के दर्शन से

मुझे एक बात का ज्ञान हुआ कि कोई मरकर हरिद्वार नहीं जाए। जाए तो जिन्दा ही जाए। गंगा मैया से बात कर ले। जहा चाहे और जब चाहे गंगा की गोद मे चला जाए। ये पण्डे लोग राख की तो मट्टी पलीत करते हैं। सच पूछो तो अगर परमात्मा मुझे मिल जाए और कहे कि एक ही वर मांग तो मैं यही कहूं कि जोर से एक बम का धमाका कर जिससे एक बहुत बड़ा गड्ढा बन जाए कि उसमें सारे पण्डे, सामाजिक व राजनीतिक, पंच, सरपच, न्याय-पच, सारे सरकारी अफसर, नेता, एम०एल०ए०, एम०पी० वगैरह सब उसमे समा जाए, फिर वापस गड्ढा बूर दिया जाए। इन सबकी तो समाधि हो जाए। इधर ये राज और समाज दोनो ही सुधर जाए।" कालू ने एक एक ठण्डी सांस ली।

"नही तो?"

"नही तो यह कुत्ते मार देंगे, राज को भी और समाज को भी। कुत्तों से भी आदमी 'पुचकार'-चुचकार से काम चला सकता है। परन्तु ये सारे के सारे 'हिड़के हुए' कुत्ते। यह हिड़क इस हद तक फैल गई है कि जीने के लिए इनसे बचकर रहो, इनके रास्ते से अलग रहो।

"कुछ लोगो को अपने ऊपर बड़ा नाज था। बोले कि इनकी हिड़क ठीक करने देंगे, हमने उन्हें समझाया कि इनकी हिड़क ठीक नही होगी। तुम खुद इनके साथ हिड़क जाओगे और हुआ भी यही। ये भले-चंगे लोग भी हिड़क गए।

"अब हम तो इनसे इतने डर गए हैं कि जब वे 'हाऊ-हाऊ' करते हैं तो हम कुछ नही कहते बल्कि उनकी टेर मे टेर मिलाते है और जब ज्यादा हाऊ-हाऊ होती है तब हम चिल्लाते हैं, 'हां ताऊ, हां ताऊ'।"

मुझे हंसी आ गई।

"हंसते क्यो हो, बाबूजी? सच्ची बात है। गरीब आदमी की क्या हिम्मत जो इन हिड़के हुए कुत्तो का मुकाबला करे। इसलिए हम तो ये जिसको कहते हैं वोट दे देते है, वोट क्या देना है, अपना पिण्ड छुड़ाना है।"

कालू की बातें सुनकर मेरे दिमाग में एक प्रतिक्रिया यह हुई कि इस देश मे बात का मोल नही है। जिस आदमी के मुह से बात निकलती है,

उसका मोल है। अगर आदमी बड़ा है तो उसके मुंह से हल्की और चालू बात भी निकल जाए तो भी वह बात बेशकीमती है। परन्तु वजनदार बात भी कमजोर आदमी के मुंह से निकल जाए तो कौन उसको सुनेगा? मजाक बनकर रह जाएगी।

कालू मेघवाल का दिमाग कितना फोटोग्राफिक है! उसके दिमागी कैमरा के सामने जो भी चीज आती है, उसके दिमाग के कैनवास पर चित्र बन जाता है। स्पष्ट और अमिट। पर किसने यह जानने की कोशिश की कि कालू मेघवाल क्या सोचता है, किसने उसके दिल की गहराइयों में उतरकर उसकी पीड़ा तथा उसके जजबातों के तूफानों के वेग की गति जानने की कोशिश की? मुझे कालू मेघवाल एक प्रतीक प्रतीत हुआ, एक ऐसे वर्ग का जो तूफानों को अपने अन्दर ही झेलते रहते हैं। मुझे कालू से हमदर्दी हो गई।

"कालू, तुम्हारे पर कर्जा है, कितना है?" मैंने पूछा।

"बाबू साहब, आपने भी क्या बात पूछी? मेरे पर कर्ज के सिवाय कुछ नहीं। मेरे पर अहसान तो किसीके हैं नहीं, कर्जा सारी दुनिया का है। मेरे पर ही नहीं, मेरे पास जो कुछ है उसपर भी कर्जा है। इस गरीब ऊंट पर भी कर्जा है, मेरी भैंस पर भी कर्जा है, मेरे खेत पर भी कर्जा है। मेरे बालों पर भी कर्जा है। कर्जा से बची हुई कोई चीज है ही नहीं। सब कुछ चला जाए तो भी कर्जा छोडकर मुझे नहीं जाएगा। पर···"

"तुम्हारे पर कर्जा है तो तुम्हारे से अलग ऊंट थोड़े ही रह जाएगा!"

"नहीं, बाबू साहब! आप समझे नहीं। इस ऊंट पर हजार रुपये का कर्जा है। ऊट रहन रखा हुआ है। ऊंट चल रहा है और साथ-साथ इसपर कर्जा भी। पर यह तो रोजमर्रा का काम। ऊंट भी आदी है। बोझ ढोने का जानवर तो बोझ ही ढोयेगा।" कालू ने ऊंट को ऐड़ लगाई और एक मारा भी—'मरे तेरा चोर'।

ऊंट ने गति पकड़ी। ऊट को एक धोरे पर चढ़ना था। ऐसे धोरे पर किसी जीप या ट्रक वाले को भी चढ़ना पड़े तो वह भी ऐसी हालत मे गियर बदलता। मैंने भी बात का गियर बदला।

"देखो, यह धोरे भी अजीब है, कालू!"

"घोरा सोरा भी है और दोरा भी," कालू ने अपनी बोलचाल की भाषा में बात का जवाब देना शुरू किया। "परन्तु घोरा मूल में ईमानदार है।" मैंने कालू के मुंह की तरफ देखा।

"देखो, बाबू साहब! बात बड़ी सीधी है। घोरे पर चढ़ते हैं तो तकलीफ होती है। उतरते हैं तो उतनी ही सुविधा होती है। गडबड़ता हिसाब पूरा हो जाता है। घोरा कोई बेगार नहीं रहता।" कालू कहता जा रहा था और बीच-बीच में टिच्-टिच् भी करता जाता था। ऊंट घोरे पर चढ़ता जा रहा था।

"अब हम कितने दूर आ गए हैं, कालू?" मैंने प्रसंग चलाया।

"यह घोरा आंध में है। जब हम इस घोरे पर चढ़ जाएंगे तो तुम्हे गांव दिखाई देने लग जाएगा।" कालू ने कहा।

थोडी देर मे ऊंट घोरे पर था। सामने गाव के झोंपड़े दिखाई दिये और एक गुम्बज भी। लगता था कि पक्का मकान एक ही है। बाकी सारे मकान कच्चे ही दिखाई दिये।

"यह लो, तुम्हारा गांव तो आ गया, कालू!"

"अभी तो, पौन कोस तो होगा ही। हम लोग इसे 'कवली' एक कोस गिनते हैं।"

"यह पक्का मकान कोई मंदिर मालूम देता है। काहे का है?"

"यह मंदिर है भोमियो जी का।"

"भोमियो जी कौन-से देवता हैं?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"भोमियो जी का नाम नहीं सुना?" कालू को आश्चर्य हुआ।

"मैंने और सारे देवताओं के नाम सुने हैं, हनुमानजी, भैरूंजी, शनिश्चरजी, रामचन्द्रजी, पर भोमियो जी का नाम नहीं सुना।" मैंने अपनी जानकारी की बात कह दी। "हरेक गांव में एक भोमियो जी होता है और हम कहते हैं कि वह 'खेड़े' का मालिक होता है।" पर कालू ने अभी बात पूरी नहीं की थी कि मैंने पूछ लिया कि 'खेड़ा' किसे कहते हैं।

"जैसे इस गांव का रकबा है अठारह हजार बीघा। यह सारा का सारा रकबा खेड़ा होता है। खेड़े में सब कुछ आ जाता है, गांव और इसके खेत। जहां तक इस गांव की सीमा जाती है वहां इस गाव का खेड़ा

कहलाता है और यह भोमियो जी इस खेड़े का मालिक है। इस खेड़े की रखवाली का जिम्मा होता है खेड़े के मालिक का। खेड़े के अन्दर रहने वाले आदमियों, पशुओं और हमारी फसलों की रक्षा भोमियो जी करते हैं। पहले तो इस गांव में पक्का मंदिर था ही नहीं। गांव के बाहर हमने खेजड़ी 'थरप' रखी थी। हम उसे भोमियो जी की खेजड़ी कहते थे और वहां एक छोटा-सा चबूतरा बना रखा था।

"तीन साल पहले हमने यह मंदिर बनाया। मेरा ही एक ताऊ का बेटा है लालू मेघवाल। उसे भोमियो जी का इष्ट भी है और वही दीया-धूप किया करता था। उसने बड़ी मेहनत की, थोड़ा-बहुत चंदा किया और हम गांववालों ने उसकी मदद की और इस तरह हम सबने मिलकर यह मंदिर बनाया। यह हमारा देवता है, हमारे खेड़े का देवता है।"

कालू ने मंदिर की ऐतिहासिकता बयान कर दी। ऊंट अपनी गति से चला जा रहा था। उसका मुंह भी चलता जा रहा था।

"यह तो ठीक है। क्या तुम्हारे गांव में और किसी देवता का और कोई मंदिर नहीं है।" मेरे मुंह से निकल गया।

"ना।"

वह काफी देर तक सोचता रहा और न जाने क्या सोचकर बोला, "और न और मंदिर की आवश्यकता ही है।"

"यह कैसे?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"बाबू साहब! 'भोमियो जी' के अलावा और देवता हमारे गांव में रह ही नहीं सकते।' कालू ने जैसे बहुत सोचकर बात कही हो।

"यह तो और भी आश्चर्य की बात कह रहा है, समझा तो सही।" मैं कालू की बात में और भी ज्यादा इण्ट्रेस्टिड हो गया।

"देखो, सही और सच्ची बात में तो आश्चर्य होना ही नहीं चाहिए।" कालू ने समझाना शुरू किया, "हमारे गांव में ज्यादातर बस्ती मेघवालों की है। दूसरी जातियों के घर तो गिनती के हैं। रामजी, कृष्णजी, हनुमानजी वगैरह का यहां मंदिर हो तो उन्हें भी आफत हो जाए और हमें भी।"

"तुम्हारी बात तो बड़ी ही मजेदार है। यह कैसे?"

"आप बात सुनो तो सही," कालू ने कहना जारी रखा। "ये सारे के सारे बहुत बडे देवता है। इनकी सारी दुनिया पूजती है। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार हैं इनके भक्त। ये ऊंचे-ऊंचे दर्जे के भगत इनके मंदिरो मे लाखो ही रुपये का चढावा चढ़ाते हैं, बड़े-बड़े प्रसाद चढ़ते हैं—मिश्री-मेवा के। केसर का भोग लगता है। फिर बड़े-बड़े पंडित लोग उनकी पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं। संस्कृत मे, हिन्दी मे। इतने बड़े-बड़े देवताओं को अगर गांव मे ले आएं तो वे भी दुख पाएं और हम लोग भी। हम लोग गरीब हैं जिन्हें भूख से ही 'भेटा' करना पड़ता है। कहां से ले आएं प्रसाद? कहां से ले आएं पंडित जो इनकी पूजा करें? ऐसी हालत मे इतने बडे देवताओ की मिट्टी पलीत करने से पुण्य तो रहा दूर, पाप की गठड़ी बधती है। क्यों अन्धा न्योते और क्यो दो बुलाए।

"फिर इतने बड़े देवताओं को सारी दुनिया की फिकर पड़ी है। दुनिया कितनी बड़ी है। हमारा गांव एक छोटा-सा। दुनिया के मुकाबिले में तो हमारा गाव ऊंट के मुह में जीरा के समान है। इतने बड़े देवता हमारे गाव की फिकर करें। हमारे गाय-भैंस ऊंट की फिकर करें, तो जचने वाली बात नहीं। हमे तो चाहिए था एक ऐसा देवता जिसे हमारे गांव की फिकर हो, हमारी फिकर हो, हमारे पशुओं की फिकर हो। मान लो कि कल हमारे ऊट का पेट दर्द करने लगे तो भगवान राम क्या करें। रामचन्द्रजी के मंदिर में जाकर कोई अर्दास करे कि महाराज हमारे ऊंट का पेट ठीक कर दो तो कितनी अटपटी बात लगे। यह तो हाथी से हल चलवाने की बात हुई। रामचन्द्रजी को कहा फुरसत कि वे ऊंट के पेट ठीक करें। रामचन्द्र जी महाराज तो अयोध्या मे पैदा हुए, राजा के बेटे थे, उन्हें ऊट की बीमारियो और उन्हे ठीक करने का क्या पता?

"हमारा भोमियो जी तो इस गांव के देवता हैं, मालिक हैं। उन्हे इस गांव की सीमा से बाहर की चीज से कोई लेना-देना नही। ऊंट को पेट-दर्द हुआ कि हम झट मे उनके पास पहुच गए। ऊंट को भी साथ में ले गए। कोई डोरा, तांती लेकर उनका नाम लेकर ऊट के बांध दी। ऊट ठीक हो गया, गाय ठीक हो गई।

"भोमियो जी के हमसे बढकर कोई भक्त नही। न वे कहते है कि

हमारे प्रसाद के लिए पेड़े लाओ, रसगुल्ले लाओ। हम जो खाते हैं, उन्हें खिला देते हैं, वे प्रसाद ग्रहण कर लेते हैं। उन्हें कुछ भी खिला दो। बाकला, भीगी हुई बाजरी की घूघरी, वड़े, गुलगुले सब चढते हैं।

"उनकी पूजा के लिए पढ़े-लिखे पुजारी की आवश्यकता नहीं। 'भोमियो जी' को न संस्कृत आती है और न शर्त ही लगा रखी है कि उनकी आरती संस्कृत में हो या हिन्दी में। बस धूप खे दिया और काम पूरा हुआ। कोई अरदास करनी हो तो मन में ही अरदास कर लो।

"इन सबके अलावा, इस गांव मे सबसे ज्यादा हैं मेघवाल। मेघवाल का भगवान क्या करे? भगवान की जूतियां गाठनी हों तो मेघवाल काम आ सकता है। आप ही बताओ, क्या मेघवाल भगवान् का पुजारी हो सकता है? पर भोमियो जी इन सब बातों का विचार करते ही नहीं। भोमियो जी का भोपा कोई ही हो सकता है। न कोई जात न पांत।"

"कालू, तू तो कमाल की बात करता है, तू तो ऐसी बात करता है जो न तो मैंने आज तक पढ़ी और न सुनी।"

मैं अपने मन के उद्गार व्यक्त करता, पर कालू में तो जैसे कोई इन धोरों मे भटकती हुई कोई धोरों की रूह घुस गई। धोरों में जब जोरदार आंधी आती है तो वह किसी का कहना नहीं मानती। धूल का तूफान बड़ा भयंकर होता है, धूल में दब जाते हैं, आदमी, ऊंट। कालू मे बस धोरों की रूह कहा या धोरों मे घून खाता हुआ कोई भूत घुस गया। कालू ने कहना जारी रखा :

"यही तो बात मैं कह रहा था, बाबू साहब! जब आपको मेरी बात नई और अनहोनी लग रही है तो फिर वे देवता जिन्हें हम-आप लोग पूजते हैं, वे कैसे हमारी बात समझ सकते हैं। वे कतई हमारी बात नहीं समझ सकते हैं। यह भी आप समझ लो कि हमें बड़े देवताओं की जरूरत ही नहीं। हमें कलेक्टर का क्या लेना, कलेक्टर कैसा ही हो। हमारा काम पटवारी से पड़ता है, अगर हमारा पटवारी ठीक है, वह हमारी सुनता है। वह अपनी किताबों में, वहीखाता में हमारा काम नहीं बिगाड़ता तब तक हमें कोई दिक्कत नहीं। कलेक्टर खुश हो या नाराज, हमें क्या फरक पड़ता है। पहली चीज तो यह है कि कलेक्टर का काम पड़ता है बड़े-बड़े लोगों

से। हममे से कोई उसके पास चला जाए तो वह हमसे क्या बात करे, हम उससे क्या बात करें ? मान लो कि हम उनसे कहें कि साहब, हम इस जिले में फलां-फलां गांव में रहते हैं तो पहले तो कलेक्टर को गांवका नाम ही नही मालूम होगा जब तक वह कोई रजिस्टर न देख ले। रजिस्टर देखकर उसने यह भी जान लिया कि फलां-फलां गांव वहां है तो उससे भी क्या हुआ ? वह न तो मुझे जानता है और न मेरे बाप को। मैं लाख कोशिश करू तो भी वह हां-हूं करके टरका देगा या कह देगा कि फलां-फलां अफसर से मिलो। अगर मैं यह कहने की गुस्ताखी करूं कि मैं तो आपके जिले की प्रजा हूं, आप जिले के मालिक हैं, इसलिए आप और मेरा रिश्ता मालिक और बन्दा का रिश्ता है, तो आप ही अन्दाजा लगा लो, ऐसी हालत मे मेरे साथ क्या हो सकता है। हो सकता है कि वहमुझे धक्का देकर निकलवा दे। उसकी तो जीभ हिलनी चाहिए, सिपाही तैयार बैठे हैं, फौज तैयार बैठी है। अगर वह जरा नेकदिल और मेहरबान हुआ तो कह देगा कि तेरे जैसी प्रजा लाखो में बैठी है। तेरे अकेले का कोई ठेका है, मेरे पास टाइम नही है, जाओ। मेरे पास क्या रह जाएगा सिवाय इसके कि मैं अपना-सा मुंह लेकर चुपचाप आ जाऊं, अपने गांव मे। सो बाबू साहब, बड़ा कोई हो, आदमी हो या देवता, अपने-आपमें एक बड़ी बीमारी है। बड़े आदमियों की बड़ी बीमारियों की वजह से ही आज दुनिया दुखी है। बीमारियां उनकी और दुख पाएं हम लोग, छोटे लोग !"

"कालू !" मैंने बात कहनी चाही। पर कालू तो घोरो की आंधी के वेग से उड़ रहा था, वह अब किसी की क्या सुने ? उसने कहना जारी रखा :

"बड़े आदमियों की दो बड़ी बीमारियां होती हैं और अगर इन बीमारियों का समय पर इलाज नही होता है तो आसपास के लोगों को भी मरना पड़ता है और खुद बीमार को भी।" मैं बीच मे कुछ कहूं उससे पहले ही उसने दोनों बीमारियों के नाम बता दिए—"पेट का बढ़ना और तोंद का बढ़ना।"

"ये क्या बीमारियां हुई ?" मैं चौंका।

"यही तो बात है।" कालू जोर से हंसा और कहता चला गया। "जब आदमी बड़ा होना शुरू होता है तो उसके पांच आनी शुरू हो जाती है,

जैसे चीटी के पर। चोंच शुरू में तो छोटी होती है पर ज्यों-ज्यों उसके जय-जयकार के नारे शुरू होते हैं तो उसकी चोंच बढ़नी शुरू हो जाती है और साथ-साथ मे उसका पेट भी। देखो, जैसे लोग कहते हैं कि मंत्रो में ताकत होती है वैसे ही इस जय-जयकार में भी यह ताकत होती है, चोंच उगा देती है और उसका बढ़ना शुरू हो जाता है। चोंच के साथ पेट का भी हिसाब है। जब तक यह जय-जयकार चलती रहती है तब तक ये दोनो चीजें बढती रहती हैं। जितनी जोर से जय-जयकार होती है उतनी ही तेजी से दोनो चीजें बढ़ जाती है और एक समय ऐसा आता है जबकि उसका पेट भी बहुत बढ जाता है। बढ़ा हुआ पेट तो बढ़ी हुई भूख। पेट के हिसाब से भूख होती है। नतीजा यह होता है कि 'भाटा भोवर' जो जो कुछ भी मिलता है, खा जाता है। धूल खा जाता है। लाखो-करोड़ों क्यूबिक फीट धूल खा जाता है, पत्थर खा जाता है, और सड़कें बेचारी टापती रह जाती है। सड़कें, उसके पेट में, नहरें उसके पेट मे। नहरें किसानो के खेतो को क्या पानी दें? लोगों के खेत सूखे रह जाते है क्योंकि नहरें तो वह पी जाता है। खेतों का धान वह खा जाता है, खाद वह खा जाता है। खाद कैसी हो देशी-विलायती, कूड़ा-करकट-गोबर। लोग उसका पेट फूलते हुए देखते है तो डरकर उसके पेट की जय बोलते हैं, पर जय-जयकार से तो उसका पेट फिर बढता जाता है। सब लोगों के पेटो मे पानी बोलने लगता है। आस-पास के सारे पेट सिकुड़ने लगते हैं और चारों ओर आशका होती है कि सारे पेट इस बड़े पेट मे जाएगे।"

"यह तो कोई विराट पेट हुआ।" मुझसे रहा न गया।

"कहते है कि कृष्णजी महाराज ने अर्जुन को विराट रूप दिखाया था। विराट भगवान का पेट भी इतना विराट नही होगा। मेरा तो यह ख्याल है कि विराट भगवान भी विराट पेट देखते तो भगवान अपने विराट स्वरूप को समेटकर एक मच्छर बनकर भों-भों करते हुए भाग खड़े होते।"

"यह तो एक बीमारी हुई।" मैं हंसा और दूसरी बीमारी भी तो है।

"हां, वह भी कोई कम नहीं। चोंच बढ़नी शुरू होती है तो चोंच बढती ही जाती है।"

"हाथी की सूंड की तरह?" मैंने बीच में छर्रा छोड़ा।

"क्या बात करते हो, बाबू साहब ?" कालू के स्वर में उत्तेजना थी। वह उसी स्वर मे कहता गया। "हाथी का सूंड क्या होती है ? यह चोंच कोसों लम्बी होती है। जहां-जहां चोंच जाती हैं, वहां कोई रह नहीं सकता। इसका नतीजा यह होता है कि जगह खाली करो, दुबक रहो, चोंच का खयाल रखो, चोंच से बचकर रहो। लोग चोच को देखकर चोच की जय-जयकार करने लगते हैं ताकि उनकी चोंच से मुड़भेड़ न हो। परन्तु लोग, हम जैसे गरीब लोग यह नहीं समझते कि यह काम तो उलटा हो रहा है। इलाज के बजाय बीमारी बढ़ रही है। जय-जयकार इलाज नहीं, बीमारी का बढ़ावा है। इस तरह ये बड़े-बड़े लोग, हमारे बड़े-बडे नेता लोग जब निकलते हैं तो अपनी बड़े-बड़े पेटों को लिये हुए, अपनी बढी हुई चोच को लिए हुए, तो लोग डर के मारे उनकी जय-जयकार करते है। बड़े-बडे पेट देखकर समझते है कि ये तो गणेशजी हैं। कलियुग मे गणेशजी की सूड चोच बन गई है। पर इन्हें क्या पता कि ये सूड-सूडाले गणेश विघ्नहारी नही, विघ्नकारी है। पर ये गरीब लोग बेचारे···" कहते-कहते कालू का स्वर मन्द हो गया।

"पर इसका नतीजा क्या होगा ?" मैंने प्रश्न किया।

"नतीजा तो मौत ही है। ये लोग मरेंगे, ये बड़े लोग, ये नेता लोग मरेंगे तो सही, पर करोड़ों गरीबों को बेमतलब मरना पड़ेगा।"

"क्या बीमारी का इलाज नहीं है ?"

"है तो सही।"

"तो फिर इलाज क्या है, बोलो ?" मेरी उत्सुकता उछालें मारने लगी।

"इलाज तो है, पर महगा, और दवाई भी कई दिन तक चलेगी, परहेज भी रखना होगा, कोई मामूली सरदर्द तो है नही जो एक पुड़िया ली और शान्त हो गया।" कालू ने कहा।

"इलाज बताओ।"

"इलाज शुरू करने से पहले यह जय-जयकार बन्द हो। जय-जयकार बन्द होने से पहले रोग बढ़ना तो बन्द हो जाएगा। फिर···" कालू रुक गया।

"फिर ?" मैं बोला।

"फिर इलाज शुरू करने की बात हो सकती है। इतनी बड़ी भयंकर बीमारी का इलाज भी कोई आसान नही। इलाज के बाद पथ्य भी आसान नही है।" कालू गंभीर हो जाता है।

"इलाज तो बतलाओ।" मेरी उत्सुकता अन्दर-ही-अन्दर उछलने लगी।

"बात यह है कि पेट और चोंच का इलाज एक साथ शुरू होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि पेट का इलाज अलग से शुरु हो और चोंच का अलग से हो। एक आदमी, कुछ आदमियों के साथ में, हाथ मे खंजर और बघनखा लेकर उस महाजलोदर वाले पेट पर हमला करे बिजली की गति से, और उसकी नाभि में खंजर घुसेड़ दे। एक ही बार मे। जैसे दशहरे के रोज यह शर्त होती है कि भैंसे का चक्कर करने के लिए तलवार वह व्यक्ति ही उठाए जो एक ही झटके में उसका सिर धड़ से अलग कर दे। वैसे ही खंजरधारी के हाथ मे इतनी ताकत होनी चाहिए कि खंजर एक ही बार मे उसकी नाभि में पूरा का पूरा घुसड़ जाए और बघनखा-धारी उस स्थान पर बघनखे से उसी स्थान पर वार करे। अगर यह सारा काम द्रुत गति से हो तथा ठीक स्थान पर पूरी ताकत से चोट हो तो फिर एक ज्वालामुखी फूट पड़ेगा। उसके पेट से लावा निकलेगा। काली-पीली-नीली गैसें फूटेंगी। आसपास के लोग समझेंगे कि कोई भूकम्प आ गया। भयंकर गर्जना से निकलने वाली गैसों से ऐसा लगेगा कि किसी धमनभट्टी से आग की लपटें निकल रही हैं। यह भी सभव है कि वह उस लावा के नीचे दबकर मर जाए, वे बघनखे वाले भी दब जाएं। बचने की सूरत कम है परन्तु सिर पर कफन बाधकर मरने के लिए कुछ लोग तो चाहिए ही। यह तो हुई एक मोर्चे की बात। दूसरे मोर्चे पर भी काम जरूरी है। वह भी एक साथ होना जरूरी है। इस मोर्चे पर भी कई आदमी चाहिए। ये लोग कुल्हाड़ियां, गंडासे, परशे आदि से सज्जित हों। एक साथ उसकी चोंच दबाकर खड़े हो जाएं और कुल्हाडियो, गंडासों तथा परशों से उसकी चोंच पर प्रहार करें ताकि उसकी चोंच के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं। सबसे पहले उसकी चोंच का वह अग्रभाग जो सूर्खे की 'ईणी' की तरह तेज है, कटना चाहिए। ज्यों ही उसकी बढ़ी हुई चोंच कट जाएगी, पेट फूट जाएगा

"क्या बात करते हो, बाबू साहब ?" कालू के स्वर में उत्तेजना थी। वह उसी स्वर में कहता गया। "हाथी का सूड क्या होती है ? यह चोंच कोसों लम्बी होती है। जहां-जहां चोंच जाती है, वहां कोई रह नहीं सकता। इसका नतीजा यह होता है कि जगह खाली करो, दुबक रहो, चोच का खयाल रखो, चोंच से बचकर रहो। लोग चोच को देखकर चोच की जय-जयकार करने लगते हैं ताकि उनकी चोंच से मुड़भेड़ न हो। परन्तु लोग, हम जैसे गरीब लोग यह नहीं समझते कि यह काम तो उलटा हो रहा है। इलाज के बजाय बीमारी बढ रही है। जय-जयकार इलाज नही, बीमारी का बढ़ावा है। इस तरह ये बड़े-बड़े लोग, हमारे बड़े-बड़े नेता लोग जब निकलते है तो अपनी बड़े-बड़े पेटों को लिये हुए, अपनी बढी हुई चोंच को लिए हुए, तो लोग डर के मारे उनकी जय-जयकार करते है। बड़े-बडे पेट देखकर समझते हैं कि ये तो गणेशजी हैं। कलियुग मे गणेशजी की सूड चोच बन गई है। पर इन्हे क्या पता कि ये सूंड-सूडाले गणेश विघ्नहारी नही, विघ्नकारी हैं। पर ये गरीब लोग बेचारे···" कहते-कहते कालू का स्वर मन्द हो गया।

"पर इसका नतीजा क्या होगा ?" मैंने प्रश्न किया।

"नतीजा तो मौत ही है। ये लोग मरेंगे, ये बड़े लोग, ये नेता लोग मरेंगे तो सही, पर करोड़ों गरीबो को बेमतलब मरना पड़ेगा।"

"क्या बीमारी का इलाज नही है ?"

"है तो सही।"

"तो फिर इलाज क्या है, बोलो ?" मेरी उत्सुकता उछालें मारने लगी।

"इलाज तो है, पर महंगा, और दवाई भी कई दिन तक चलेगी, परहेज भी रखना होगा, कोई मामूली सरदर्द तो है नही जो एक पुडिया ली और शान्त हो गया।" कालू ने कहा।

"इलाज बताओ।"

"इलाज शुरू करने से पहले यह जय-जयकार बन्द हो। जय-जयकार बन्द होने से पहले रोग बढना तो बन्द हो जाएगा। फिर···" कालू रुक गया।

"फिर ?" मैं बोला।

"फिर इलाज शुरू करने की बात हो सकती है। इतनी बड़ी भयंकर बीमारी का इलाज भी कोई आसान नही। इलाज के बाद पथ्य भी आसान नही है।" कालू गंभीर हो जाता है।

"इलाज तो बतलाओ।" मेरी उत्सुकता अन्दर-ही-अन्दर उछलने लगी।

"बात यह है कि पेट और चोंच का इलाज एक साथ शुरू होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि पेट का इलाज अलग से शुरू हो और चोंच का अलग से हो। एक आदमी, कुछ आदमियों के साथ मे, हाथ मे खंजर और बघनखा लेकर उस महाजलोदर वाले पेट पर हमला करे बिजली की गति से, और उसकी नाभि मे खंजर घुसेड दे। एक ही बार मे। जैसे दशहरे के रोज यह शर्त होती है कि भैसे का चक्कर करने के लिए तलवार वह व्यक्ति ही उठाए जो एक ही झटके में उसका सिर धड़ से अलग कर दे। वैसे ही खंजरधारी के हाथ मे इतनी ताकत होनी चाहिए कि खंजर एक ही बार मे उसकी नाभि में पूरा का पूरा घुसड़ जाए और बघनखाधारी उस स्थान पर बघनखे से उसी स्थान पर वार करे। अगर यह सारा काम द्रुत गति से हो तथा ठीक स्थान पर पूरी ताकत से चोट हो तो फिर एक ज्वालामुखी फूट पड़ेगा। उसके पेट से लावा निकलेगा। काली-पीली-नीली गैसें फूटेंगी। आसपास के लोग समझेंगे कि कोई भूकम्प आ गया। भयंकर गर्जना से निकलने वाली गैसों से ऐसा लगेगा कि किसी धमनभट्टी से आग की लपटें निकल रही हैं। यह भी संभव है कि वह उस लावा के नीचे दबकर मर जाए, वे बघनखे वाले भी दब जाएं। बचने की सूरत कम है परन्तु सिर पर कफन बांधकर मरने के लिए कुछ लोग तो चाहिए ही। यह तो हुई एक मोर्चे की बात। दूसरे मोर्चे पर भी काम जरूरी है। वह भी एक साथ होना जरूरी है। इस मोर्चे पर भी कई आदमी चाहिए। ये लोग कुल्हाड़ियां, गंडासे, परसे आदि से सज्जित हों। एक साथ उसकी चोंच दबाकर खड़े हो जाएं और कुल्हाड़ियों, गंडासो तथा परसों से उसकी चोंच पर प्रहार करें ताकि उसकी चोंच के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं। सबसे पहले उसकी चोंच का वह अग्रभाग जो सूर्य की 'ईणी' की तरह तेज है, कटना चाहिए। ज्यों ही उसकी बढ़ी हुई चोंच कट जाएगी, पेट फूट जाएगा

सारी गैसें निकल जाएगी और वह…"

"वह मर जाएगा" मैं बोल उठा।

"नही, बाबू साहब ! वह मरेगा नही। कुछ देर बाद वह होश मे आएगा। चोंच झड जाने के बाद वह अपनी जीभ को काम में लाएगा। अभी तक तो वह चोंच ही भिड़ाता रहा था, अब वह जीभ से बोलेगा। आदमी की तरह हमारी तरह, हमारी भाषा में। पेट झड़ जाने के बाद, वह अपने पेट की तरफ देखेगा और फिर हमारे छिपे हुए पेटों की तरफ देखेगा।"

"तुम्हारा नुस्खा है तो जोरदार, कहा से लाए, कालू ?" मैंने पूछा।

"लाया कही से नही मैंने तो कथा सुनी थी।"

"कौन-सी, कहां पर ?"

"यही, लोगों से। रामायण की कथा। कहते है कि रावण मरता नही था। राम ने बड़ी कोशिश की। अन्त मे विभीषण ने बताया कि इसकी नाभि मे वार करो वर्ना यह मरेगा नही। ऊंट पर चलते हुए, खेत मे काम करते हुए, मरे हुए जानवर की लाश चीरते हुए, मुझे रामायण की यह बात याद आ जाती है तो मैं अपने ढग से सोचने लगता हूं और यह निष्कर्ष निकालता हूं कि कोई-सा युग क्यो न रहा हो, चाहे सतयुग हो या त्रेता, उस युग का ऊंट भी मेरे ऊंट की तरह ही रहा होगा, भार ढोने के ही काम आता होगा, घोड़ा भी जुतता ही होगा, तांगे में नहीं तो रथ मे। लोग चगलखोर भी होगे, स्वार्थी भी होगे, दूसरो की औरतो पर भी बुरी नजर रखते होगे, मौका पडने पर भगाकर ले जाते होगे। देवता लोग भी ठगी करते थे।

"रावण कहते है कि ब्राह्मण था, पर लोगों ने उसका जय-जयकार करके उसका खोपडा फुला दिया। फिर एक खोपडा से दो खोपड़े, दो से तीन और बढते-बढते दस खोपडे। उसके मूल मे बात वही। लोगों की जय-जयकार से उसका खोपड़ा बढ़ गया होगा। वह ब्राह्मण से राक्षस बन गया जैसे आज का नेता रक्षक से भक्षक बन जाता है। तस्कर बन जाता है।

"आखिर दस खोपड़े तोडने ही पडे। उसकी नाभि सुखानी पड़ी।

ऐसा हर युग में होता है, क्या त्रेतायुग, क्या कलियुग। खोपड़े बढ़ेंगे, चोंच बढ़ेंगी। भस्मासुर तो हर युग मे रहेगा। अगर उसको कड़ा दे दिया गया तो वह तो फिर सबके सिर पर कड़ा फेरता ही रहेगा। कड़ा चाहे लोहे का हो या सत्ता का हो, अगर मिल गया तो फिर भस्मासुर कैसे रुकेगा? भस्मासुर तो उसको ही खाने की कोशिश करेगा जिसने उसको कड़ा दिया, सत्ता दी।

"जब-जब भी इस प्रकार कड़ा जिस किसी को दिया जाएगा, तो वह तो भस्मासुर हो जाएगा। कोई फर्क नही पड़ता, आपने कड़ा किसको दिया?—पाने वाला चाहे देव हो या मानव, नेता हो या सेवक, अन्त मे तो भस्मासुर ही बनेगा, रावण बनेगा। राक्षसी संज्ञा को प्राप्त होगा। राक्षस को मारने में, वही दिक्कतें, वहीं एक रास्ता, नाभि से पकड़ो। परन्तु इसके लिए जिम्मेवार···"

"कौन है?" मैंने सवाल किया।

"जिम्मेवार हैं वे सारे लोग जिन्होने 'जय-जयकार' किया। कण्ठ-फाड़कर। यह सामने खेजडी का पेड देखते हो। खेजडी ही क्यों, कोई पेड़ ले लो, उसकी टाइम-टाइम पर छंगाई होनी ही चाहिए। उसकी छंगाई नही हुई तो इसकी बढ़ोतरी ऊकचूक हो जाएगी। इसमें कांटे ही काटे हो जाएंगे। इसकी टहनियां, इसकी शाखाएं मनमाने ढग से बढती जाएंगी। नतीजा यह होगा कि पेड़ दुख-देवा हो जाएगा। रोशनी को आने नही देगा। आप इसके नीचे खाट डालकर सो नहीं सकेंगे। कोई झाड़ियों वगैरह को पनपने नहीं देगा। अगर इसके नीचे कोई चीज पनपेगी तो वह होगी साप, बिच्छू, उल्लुओ के घोसले।

"पेड़, नेता और देवता वगैरह की छगाई समय-समय पर होती ही रहनी चाहिए। पेड कोरे वनमहोत्सव से बिगड़ जाता है, उसका स्वागत कुलहाड़ी से भी होना चाहिए। नेताओं का स्वागत भी कोरी फूलमालाओ से ही नही, जूते-चप्पल तथा अण्डे फेंककर भी करना चाहिए। नेता और जनता का हित इसी में है। शिवजी का एक भक्त शिव की भक्ति दो जूते लगाकर करता था और शिवजी कभी नाराज न हुए।" एकाएक ऊंट ठहर गया। "ऊंट को भी एड़ लगनी चाहिए।" कहते-कहते उसने ऐड़ लगाई।

मुझे हंसी आ गई।

"लो, यह हमारा गांव आ गया। यह रहा भोमियो जी का मंदिर।" कालू बोला।

"खेड़े के मालिक के दर्शन भी कर लिये जाएं। जब मैं इसके खेड़े में आया हूं तो मालिक के यहां हाजिरी तो मंडानी ही चाहिए।" मैंने कहा तो कालू जोर से हंसा।

"बिल्कुल ठीक।" उसने हंसते हुए कहा।

ऊंट बिठलाया गया। हम दोनों उतरे। मंदिर क्या था, एक छोटी-सी छतरीनुमा मंदिर। एक चौकी पर दो पैरों के निशान थे।

"यह हैं पगलिये।" कल्लू ने कहा, "हम लोग इनकी 'धोक' खाते हैं।"

"क्या भोमियो जी की मूर्ति नही होती?" मैंने पूछा।

"रामदेवजी और भोमियो जी की मूर्ति नहीं होती। केवल पैरो के निशान ही पूजे जाते हैं। हम तो शूद्र हैं और शूद्र लोग पैर ही पूज सकते है। खोपड़ियां तो ब्राह्मणो के पास रह गई।" कालू ने मेरे से चुटकी ली।

"यह आ गया मेरा भाई लालू। यही यहां का भोपा है। धूपदीप करता है।

मैंने हाथ जोड़े और उसने भी।

लालू ने मुझे एक भस्मी की चिउंटी दी और मैंने भस्मी का तिलक लगा लिया।

"पास में एक राजपूतो का घर है। पानी मंगवा दू। हाथ-मुंह धो लो। थकावट मिट जाएगी।"

"क्यों बाबा, तुम्हारे घर मे पानी नही?" मैंने पूछा।

"है तो क्यो नही? पर हम लोग मेघवाल हैं और आप ब्राह्मण।"

"सो उससे क्या है, मैं तो पीता हू, मैं कोई छुआछूत नही मानता हूं।" मैंने कहा।

"यह तो हो सकता है, कभी-कभी आप गोमूत्र भी तो पीते हैं?" कालू ने चुटकी ली।

"नही, बाबा, मेरा कई बार काम पड़ा है, मैंने उनके यहां खाया है और खिलाया है।"

"मैं कब इसे झूठ समझ रहा हूं। आप लोग तो श्राद्धपक्ष में कौओं को भी पूरे पन्द्रह दिन खिलाते हैं, पर बेचारे कौओ की तो सद्गति नही हुई न, उनका कांव-कांव से पिण्ड छूटा और गंदगी से।" लगते हाथ कालू ने एक लट्ठ-सा मार दिया।

"कालू, तू आदमी तो जोरदार है।" मैंने अपने-आपको हतप्रभ मानते हुए कहा।

"मैं क्या, मेरी सात पीढियों में कोई जोरदार नहीं हुआ और न मेरी आने वाली सात पीढ़ियों में कोई जोरदार होगा, यह है मेरी भविष्य-वाणी और चौदह पीढ़ी का हिसाब।" कालू ने कहा।

"तू यह सोचता होगा कि तू चमार है अतः तू व तेरी आने वाली पीढ़ी तरक्की नहीं कर सकती, अगर यह सोचता है तो सोचना गलत है।" मैंने चालू मुहावरे से बात की, "आज के युग में कोई जाति-पाति नही है और जन्म से कोई छोटा-बड़ा नही होता।"

"महाराज, बात समझे नही, मेरे मन की।" कालू सिर हिलाने लगा।

"तो तेरा मतलब ?" मैंने उसकी तरफ देखा।

"मैं चमार हूं, महाचमार बनने के लिए तैयार, बिल्कुल राजी मन से, कभी कोई शिकायत नही करूंगा कि लोग मुझसे छुआछूत बरतते हैं, पर मेरी एक शर्त है ?" कालू ने कहा।

"वह क्या है ?" मेरे मुह से निकल गया।

"कोई पांच लाख की लाटरी खुल जाए, या कही दबा धन मिल जाए तो फिर देखो।" कालू अनागत भविष्य मे डूब गया और मन के लड्डू खाने लगा।

"तो फिर क्या करेगा, कालू ?" मैं भी एकदम लाइट मूड मे आ गया।

"क्या करूं ? पहले अपने भोमियोजी की कायाकल्प करूं। भोमियोजी का ऐसा मंदिर बनाऊं कि सपने में सारे देवता मुझे दर्शन दें और कहें कि

हमारा भी ऐसा ही मंदिर बना। फिर इस ऊंट को घी दूं और यह ऊंट भी क्या याद रखे, इसके लिए सोने का गहना बना दूं। सोने का काम किया हुआ ऊपर झूल। जब मैं इस पर चढ़कर चलूं तो ब्राह्मण-बनिये मुझे सलाम करें। आज न कोई जात है न पांत। न कोई ब्राह्मण है न शूद्र। जाति दो ही हैं—एक जिसके पास पैसा है और एक जो मुफलिस है। बाबा 'हथली पले तो रोई में चले'। पर छोड़ो इन चीजों को। यह पानी ले आया। हाथ-मुंह धोओ। अगर आपका मन माने तो थोड़ी राबड़ी पिला दूं।" कालू बोला।

"राबड़ी के लिए तो शेरशाह हिन्दुस्तान की हुकूमत गंवाने को तैयार हो गया था। जरा मंगवा ले, धूप में ठीक रहती है।"

"इसका मतलब, शेरशाह मूर्ख था या रबड़ी समझ गया होगा।"

जब मैं राबड़ी पी रहा था तब कालू बोला कि मुझे उसका लड़का छोड़ आएगा। उसने क्षमा-याचना के स्वर में कहा कि उसे खेत जाना भी जरूरी है तथा कुछ कुत्तर करनी है। उसका पन्द्रह वर्षीय लड़का मुझे छोड़ आएगा। मैंने भी हां कर दी।

उसने रामा-श्यामा के साथ मुझे विदा दी। 'कड़ा काठा' कुछ भी कह दिया हो, उसके लिए माफी मांगी।

ऊंट रास्ते चल पड़ा। ऊंट आगे को चल रहा था, और मेरे दिमाग में पुरानी रील पुनः चल रही थी।

ऊंट चल रहा था'''गांव आ गया। मैं चौंका। घड़ी की तरफ देखा तो एक सुई गायब नजर आई। सूरज सिर पर था। सिर के तो बाल ही नहीं दिखाई देते। मैं ऊंट से उतर आया, पर कालू अभी भी मेरे दिमाग से उतरा नहीं था।

कुछ सवाल जो मुझसे सुलझते नहीं

वैसे कोई बड़े-बड़े सवाल नहीं हैं कि पीथागोरस की प्रतिभा की आवश्यकता पड़े। छोटे-छोटे सवाल; देखने में बहुत सीधे। रोजमर्रा के। सरल। पर, समाधान! अपनी समझ तो साथ नहीं देती, आप यदि सहायता करें तो स्वागत है।

इजाजत हो तो बात कह दूं।

बात बचपन की है। मैं छोटा ही था। हमारे एक गाय होती थी। बहुत दूध देती थी। परन्तु वह एक तरीके से दूध देती थी। मा दूध निकालती थी, तब मेरा काम होता था कि गाय को 'बाटा' डालता रहूं। धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा। थोड़ी-सी चूक हुई कि गाय 'कूद' जाती। मुझे डांट पड़ती।

मैंने कई बार सोचा : गाय ऐसा क्यों करती है? अजीब-सी बात है; दिन भर खिलाओ-पिलाओ। मगर दूध निकालने के समय अगर 'बाटा' न डाला गया तो दूध 'चढ़ा' लेगी। दिन-भर भूखी रक्खो, पर दूध निकालने के वक्त अगर बाटा चटवाते रहो तो दूध दे देगी।

गाय का यह व्यवहार मेरी समझ में नहीं आया। बहुत सिर मारा। गाय को दूध चढ़ा लेने में क्या फायदा? दूध थनों में सूख जाएगा। उसकी दूध देने की क्षमता घट जाएगी और उसी अनुपात में उसकी उपादेयता भी। पर, गाय को कौन समझाए? गाय कैसे समझे?

मैंने मा से यह बात कही, पुरजोर शब्दों में।

"यह तो 'बाण' है। 'बाण' 'कुबाण' भी हो सकती है।" उसने मुझे समझाया।

मेरी मां 'पावलोव' नहीं थी और न उन्हें कोई कुण्ठाओं का ज्ञान ही था।

मेरी समझ की परिधि में कोई बात घुसी नहीं। .

कल की बात है। कुछ लड़के आए और कहने लगे कि गणतंत्र दिवस के अवसर पर आयोजित होने वाली परेड में भाग लेने वाले लड़कों को नाश्ता दिलवाया जाए।

"पर उनको ही क्यों? बाकी लड़कों को क्यों नहीं? गणतन्त्र तो सबके लिए है।" मैंने कहा।

"सब लड़के परेड थोड़े ही कर रहे हैं, सर?" छात्र-नेता बोल उठा।

"तो, तुम्हारा मतलब यह हुआ कि नाश्ता दो तो लड़के परेड करेंगे, नहीं तो नहीं, गणतन्त्र दिवस से क्या लेना?" मैं बात पूरी भी न कर पाया था कि एक लड़का बोल उठा, "हमेशा से ऐसा होता है, सर! नयी बात तो है नहीं।"

मुझे गाय की बात याद आई। मां की बात याद आई। लड़कों को 'चाटा' चाहिए। 'बाण' 'कुबाण' पड़ी हुई है।

"मैं तुम्हें पच्चीस पैसे 'पर हैड' से ज्यादा नहीं दे सकता। यह रही इस मद की बजट पोजीशन," अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए मैंने कहा।

"ठीक है, सर! एक कप चाय ही पी लेंगे।" नेता लोग मान गए। मेरी समझ में बात आ गई कि इन्हें तो 'चाटा' चाहिए। क्वानटिटी या क्वालिटी से कोई सरोकार नहीं। चाय में कौन-से विटामिन व प्रोटीन होते हैं, वे समझने की कोशिश नहीं करेंगे।

विभागीय आदेश!

अध्यापकों से अपेक्षा की गई थी कि वे ग्रीष्मावकाश में या लेजर टाइम में प्रौढ़ शिक्षा में भाग लें।

अध्यापकों की मीटिंग बुलाई गई। पूरा का पूरा आदेश पढ़ा गया और आह्वान किया गया कि इच्छुक अध्यापक आगे आएं।

"ऐसे अध्यापकों को इन सेवाओं के एवज में क्या मिलेगा?" एक जिज्ञासु महानुभाव तपाक से किन्तु तैश में पूछ बैठे।

"प्रशस्तिपत्र," मैंने वातावरण को हल्का बनाने की गरज से कहा।

"उसको चाटें क्या ?" एक प्रतिक्रिया। कहां से, या किस कोने से, मैं जान न सका।

"तो फिर, कोई चाटा होना चाहिए ?" मैंने बात उछाल दी, इस गरज से कि बात ठण्डी न पड़ जाए।

"आप किस लहजे में कह रहे हैं ?" स्टॉफ सेक्रेटरी खड़ा हुआ। उसने कहना जारी रखा, "पर यह तो न्यायसंगत बात है कि ऐसे अध्यापकों के लिए कोई-न-कोई 'इनसेण्टिव' तो होना ही चाहिए। चाहे पूरी तनख्वाह पर छुट्टी का हक हो, इम्तिहान देने की 'परमिशन' में प्राथमिकता हो, या कोई रोकड़ी भत्ते के रूप में हो।"

सेक्रेटरी ने स्टॉफ की ओर से मन्तव्य स्पष्ट किया। अध्यापकों की मुखमुद्रा से ऐसा लगता था कि सेक्रेटरी का सामूहिक स्वर था।

"ठीक है, ठीक है, मैं समझ गया," मैंने स्वीकार किया और यह भी समझ गया कि सभ्य भाषा में 'चाटा' का पर्यायवाची शब्द 'इनसेण्टिव है और उसके चाचाजाद भाई हैं ऐवार्ड और रिवार्ड भी।

लगता है चाटा और इनसेण्टिव का मूलतः सम्बन्ध वही है जो कि कठपुतली और सिनेमा का है। ध्येय एक। सोशल अर्ज एक। मुझे अपने गंवारू बैकग्राउण्ड पर झेंप जरूर आई।

"कर्मचारियों की हड़ताल टूट गई। सरकार ने मांग ली। अन्तरिम सहायता के बतौर कम-से-कम दस रुपये प्रति माह, पन्द्रह रुपये प्रति माह से अधिक किसी को नहीं।" एक न्यूज आइटम।

पता नहीं पड़ा कि माध्यम पी० टी० आई० है या यू० एन० आई०। लगता है कि समाचार अधिकृत ही है।

"कितनी खुशी की बात है," मैंने अपने मन में कहा, "अब मैं एक पान और एक कप चाय और पी सकता हूं।"

मेरी खुशी ज्यादा देर न टिक सकी। ख्याल आया कि मूल समस्या तो तेल, नमक, लकड़ी, कपड़ा धुलाई, साबुन, सब्जी वगैरह ही है।

समस्या एक पान और एक कप चाय की नहीं है ?

क्या हड़ताल इसीलिए की गई थी।

हड़तालियों का मूल मे क्या इतना ही सीमित लक्ष्य था ?
बात मूल में वही 'चाटे' की थी।
सरकार ने जरा चाटा डाला कि हड़ताली 'पावम' गए।
मुझे फिर याद आती है। गाय और मेरी मां !

सरकार वेतनमान सुधारने की सोचती है। समय-समय पर सुधारती भी है। मान लो (यद्यपि मानने से कुछ होता-वोता नही) कि कल से न्यूनतम वेतन एक हजार रुपये हो जाए।

तो, फिर ?

क्या स्कूल सुधर जाएगे ?

पास पचास प्रतिशत से बढकर शत-प्रतिशत हो जाएगा ?

क्या 'स्टैग्नेशन' रुक जायेगा ?

कोई गारण्टी दे सकता है ?

कुछ भी कहो, मुझसे मेरी गाय वाली बात भूलती नही। कितना ही खिलाओ पिलाओ, अच्छा वेतन दो 'धपाकर'। पर ऐन वक्त पर 'चाटा, न डाला तो गाय तो दूध नहीं देगी। अच्छा परीक्षाफल रहा तो एक 'एडवान्स इंक्रीमेण्ट' दो। कोई रियायत, कोई सहूलियत तो होनी चाहिए। नामकरण कुछ भी हो, चाटा, इन्सेण्टिव, एनकरेजमेण्ट, रिवार्ड, ऐवार्ड, मेरिट सर्टिफिकेट। जब विष्णु के हजार नाम हो सकते हैं तो इसमे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है !

मैं घर चलता हूं। रास्ते मे पनवाड़ी की दूकान। मेरा सबसे बड़ा जंकशन। मेरा वाटरिंग स्टेशन, नया ईंधन लेने का स्टेशन। वैसे मैं अपनी ही स्टीम से चलता हूं।

मुझसे पूछो तो मुझे पनवाड़ी से ज्यादा कोई 'मातवर' नजर नहीं आता। पनवाडी से ज्यादा मुझे कोई 'मातवर' नही समझता। ये बजाज और ये सर्राफ !

उनमें आत्मीयता कहां ? मेरा तो यही अनुभव है। भूल से मालों मे कभी-कभार इनके यहां पहुंच भी गया तो उनकी निगाहों से ऐसा लगता है जैसे कि मैं कोई अछूत हूं और वे धर्मसंकट मे फंस गए हों !

खैर पनवाड़ी की आत्मीयता ! अनुभव की चीज है।

अगर सार्वजनिक हड़ताल के दिन पनवाडी की दूकान बन्द नहीं होती तो मेरे हिसाब से हड़ताल भी मुकम्मिल नही होती !

मोहन पनवाडी, मेरा दोस्त !

केवल पान बेचता है। लोग खाते हैं और थूक देते है। परन्तु मोहन को उससे क्या ? उसने तो मकान बनवा लिया है। शानदार-सा।

मैंने उसे एक रोज कहा कि वह अपने भवन का नाम रख ले 'थूक भवन।'

"थूक भवन !" उसने मेरी तरफ देखा *खास अन्दाज से। एक खास* ऐंगल से।

"ठीक ही तो है, वैसे थूक मे चिपकता नही कागज भी, पर तेरी तो ईंटें भी थूक की, और चिपक भी गईं। तेरा मकान सामूहिक थूक की परिणति है। देखो, जितने लोग थूकेंगे (पान खाकर) और जितने ज्यादा लोग थूकेंगे, तुम्हें उतना ही ज्यादा फायदा होगा," मैंने एक छोटा-सा भाषण झाड़ दिया। *भाई लोगों* की भीड़ मे एक सज्जन हंस पड़े। हंसी का फव्वारा जो छूटा कि मेरे कोट पर अमिट निशान छोड़ गया।

"आप क्या करते हो? कौन-सी बाजरी बेचते हो? कोरा थूक उछालते हो।" मोहन ने नहले पर दहला मारा।

"तुझे तो मास्टर होना चाहिए।" मैंने झेंप मिटाते हुए कहा।

"खैर, मैं तो पनवाड़ी ही ठीक हू। पर मेरा एक भतीजा है। बी० एम०टी०सी० पास। तीन साल से इन्तजारी में बैठा है कि मास्टरी मिले। मैं कहता हूं कि पान की दूकान कर ले। परन्तु पनवाड़ी बनने में जोर आता है, बैठक चाहिए। पसीना आता है। मास्टरी में 'सुड़-सुड़' कर मरना मजूर है। परन्तु स्वतन्त्र काम करने की प्रवृत्ति मारी गई। ये पढ़े-लिखे लोग क्या करेंगे ? मुझे समझ में नहीं आता," मोहन ने एक ज्ञापन-सा पेश कर दिया।

"तू ठीक कहता है, मोहन !" पान को मुंह में दबाते हुए मैंने कहा और चल दिया।

मोहन ने एक बात कही।

यही बात तो शिक्षाशास्त्री कहते हैं।

यही बात अगर विज्ञान भवन मे कोई 'बिग-बिग' कहता तो अखबारों मे सुर्खियो के साथ छप जाता। परन्तु मोहन पान बेचता है। सिर्फ पान। इसलिए ज्ञान की बात कैसे बेच सकता है? लोग उसका पान खाकर थूक देते हैं, बस उसी तरह उसकी बात सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। ज्ञान भी तो 'अनऑथोराइज' दूकान पर बिक नहीं सकता। लाइसेन्स होना चाहिए सनद के रूप में।

मैंने पान का पहला पीक थूका।

"पान की दूकान क्या बेजा है?" अपने-आपसे सवाल किया। आर० के० नारायण तो बिना पान खाए हुए कुछ लिख भी नही सकते। उनके लिए तो अमेरिका मे पान जाते है, हवाई जहाज से।

फिर पढ़ा-लिखा आदमी पनवाडी बन जाए तो शर्म की क्या बात है?

पान का दूसरा पीक थूका। पान की तुर्शी तो खतम। सोचा कि पनवाडी की ओर चलें और एक पान और जमाएं।

एबाउट टर्न किया।

"क्यो, कहा जा रहे हो?" एक आवाज आई। इस आवाज को मैं बहुत जानता हूं।

"कहीं नहीं," मैं 'ऐज यू वर' हो गया। घर के दरवाजे से लौटना मेरे बस की बात नहीं थी। पान का रहा-सहा नशा काफूर।

"बड़ी देर लगा दी।"

"कहां रहे? यह भी कोई वक्त है?"

"हम सब लोग तंग आए, आपसे!"

अंग्रेजी में कोई शब्द, कहावत, जुमला वगैरह बार-बार प्रयोग मे आए तो वह क्लिशे (Cliche) कहलाता है। क्लिशे महादोष है पर मुझे अपने घर में क्लिशे के सिवाय कुछ सुनना ही नही पडता। वही सवाल, वही टोन। साल के बारह महीनों, चौबीस पखवाड़े, बावन हफ्ते और एक

सौ पैंसठ दिन। रोज की यही रट मेरी धर्मपत्नी की, कर्मपत्नी की।

सच पूछा जाए तो धर्मपत्नी शब्द की सार्थकता समझ में नहीं आई। धर्म की बात कौन-सी है ?

आज के महंगाई के जमाने में सबसे कॉस्टली आइटम ही पत्नी है और ऊपर से ये 'इन्सीडेण्टल चार्जेज' ।

धर्मभाई, धर्मबहन की बात तो समझ में आती है। परन्तु पत्नी में धर्म कहां घुस गया। सब कर्म ही कर्मों के बंधन। वह तो सारे कर्मों की जननी है।

खैर, हिन्दी के पण्डिताऊपन से पिण्ड नहीं छूटा। उसे 'सिक्यूलर' बनने में देर लगेगी।

अनासक्त भाव से सब कुछ देखता हूं, सुनता हूं। न मुझे याद है और न मेरी ओर से फरियाद है।

"खाना ठण्डा हो जाएगा।"

मैं चुप।

"खाना खाना है कि नहीं ?"

मैं फिर भी चुप।

"भूख है कि नहीं ?"

"पहले एक चाय पिलाओ, फिर पता चलेगा कि भूख है या नहीं। फिर सोचूंगा कि खाऊं या नहीं।" मैंने मौन भंग किया।

"अजीब आदमी हो। यह भी पता नहीं कि भूख है कि नहीं, खाना खाना है कि नहीं," वही आवाज-जानी पहचानी।

"अरे, तुम्हें कैसे समझाऊं कि ऐसी मन.स्थिति में शेक्सपीयर भी हेमलेट के माध्यम से चिल्ला पड़ा था : टु बी ऑर नॉट टु बी···"

मेरी बात पूरी भी न हो पायी थी कि फिर एक और धमाका।

"खाना खाना है कि नहीं। नहीं तो चौका उठाया जाये।"

"मैं पहले चाय पिऊंगा," दृढ़ता के स्वर में मैंने कहा।

मैंने हेमलेट कॉम्पलेक्स तोड़ दिया। डेनमार्क के राजकुमार से बाजी मार गया। यह निश्चयात्मक बुद्धि का ठोस प्रदर्शन था जिसके लिए

भगवान कृष्ण को अर्जुन से कितनी देर माथापच्ची करनी पड़ी थी। अर्जुन से मैं एक ही बात में कम हूं कि अपने ही घर में व्यूहरचना को तोड़ नहीं सकता।

"यह लो कप, बच्चों की-सी जिद ! यह भी कोई चाय का टाइम है ?"

मैंने कुछ नहीं कहा। कोई कमेण्ट नहीं।

चाय की प्याली खिंचकर होंठों के पास आ गई।

एक सिप।

गरमागरम चाय। तैरता हुआ धुआं। पता नहीं मेरे ही मुंह की भाप थी या चाय की प्याली में कोई आग थी। चाय की प्याली में तूफान तो कई बार देखा था। चाय में सचमुच कोई करिश्मा होता है ! सुषुप्त ज्ञानेन्द्रियां जाग उठती है। चाय की वाष्पमय तरंगों में रेडियो लहरें। सम्प्रेषण की क्षमता।

चाय की प्याली तो आई, पर किस कीमत पर ? एक सर्टिफिकेट के साथ।

बच्चों की-सी आदत ! एक 'आन्तरिक मूल्यांकन-सा'।

क्या मैं अब भी बच्चा हूं ?

यह बात तो मेरी मां कहा करती थी।

मैं रूठता था, अड़ता था, हठ करता था, बोलता नहीं था, पर जिद नहीं छोड़ता था।

मेरा हठ, मेरी जिद पूरी करती थी मेरी मां।

मां तो मर गई, पर मरी नहीं मेरी मां की 'मातृमूर्ति,' मदर फिगर, मां का भूत, प्रेत, छाया। एक अदृश्य छाया। वह मातृमूर्ति प्रतिष्ठित हो गई है अन्यत्र। पत्नी में, पुत्री में।

फिर मैं ? दिमाग में एक तरंग।

···वही बच्ची जिसका बेबीशैल टूटता नहीं ?

वही बच्चे की आदत; जिद, हठ।

वही 'बाण', वही 'बुयाण' :

तो ? आदमी एक शाश्वत बच्चा है ?

मैं तर्क के सहारे आगे बढ़ता हूं।

अचेतन मे कोई पत्थर फेंकता है।

आदमी आधा बच्चा और आधा जानवर पैदा होता है। औरत का काम है कि वह उसे परिष्कृत करे और पालतू बनाए।

आदमी आधा बच्चा पैदा होता है!

आदमी आधा जानवर पैदा होता है!

औरत का काम? वह क्या कर सकती है?

क्या यह सम्भव नही कि वह आधे बच्चे से पूरा बच्चा बना दे?

उसे कौन-सा गणित आता है?

यह भी सम्भव है कि वह आधे जानवर से पूरा जानवर बना दे!

तो, फिर? बड़ी खतरनाक स्थिति आ सकती है?

चलो, आदमी पूरा बच्चा बन गया तब तक तो गनीमत है। इतना ही तो हुआ कि आठ और साठ साल के आदमी की 'मेंटल एज' में फर्क नहीं होगा। बाल सफेद हो जाएंगे, दांत टूटते जाएगे, चश्मे के नम्बर बढ़ते जाएगे। मगर उसका शिशु-कवच तो बरकरार रहेगा।

शिशु-कवच में सुरक्षा होती है!

आखिरकार, मातृसत्ता-युग मे भी तो आदमी का बच्चा रहा होगा। उसकी 'रेस' का पुराना अनुभव जी उठेगा। यह अनुभव तो उसके खून में है। अभ्यस्त होने में क्या देर लगेगी?

ज्यादा-से-ज्यादा कुछ लोग फब्तियां कस लेंगे। पर इसकी गुंजाइश ज्यादा नही है। काच के मकान में रहने वाले दूसरों पर पत्थर नही फेंका करते!

पर खुदा न खास्ता, आधे जानवर से पूरा जानवर बन जायें तो···?

तो फिर क्या होगा?

एक जानवर, एक हैवान से क्या अपेक्षाएं? कौन-सी रस्सी मे बांध सकेंगे?

रस्सियां तो वह तोड़ देगा। सब रिश्ते तरक।

हैवान की नजरों में तो कोई हौवा ही नहीं।

मां, बेटी, बहन, भाई, बेटा, बाप, बच्चे। ये तो आदमी के रिश्ते हैं।

ऊंट की मां और बीबी दो थोड़े ही होती है !

वह तो किसी को नहीं छोड़ेगा !

फिर तो जगह-जगह बंगला देश, वियतनाम…

उसकी उपलब्धि की गाथाएं बयान करेंगी—

खोपड़ियां ! नर कंकाल ! सामूहिक कब्रें ! सड़ती लाशें ! उड़ती हुई हृष्टपुष्ट चीलें !

क्या पाकिस्तान में औरतें मर गई थीं ? अमरीकी मेमों का क्या हो गया था ?

क्या वहां ऊंटनियां ही थीं ?

माताएं मर गई थीं ? बीबियां नहीं थीं ?

बहनें न थीं ? बेटियां न थीं ?

फिर ये इतने सारे मदान्ध ऊंटों का टोला कैसे तैयार हुआ ?

आदम का बच्चा इतना जलील तो नहीं हो सकता कि हौवा की बेटी की हवा ही निकाल दे ?

एक सिप। पूरे जोर से। कप खाली था। मैं हवा खींचकर ही रह गया।

पास में खड़ी मेरी लड़की हंस पड़ी। मैं चौंका।

मैं घूम-फिरकर अपने घर आ गया।

एक लघु यात्रा

कैसा रहे अगर मैं शुरू ही में साफ-साफ कह दूं और माफी भी माग लूं कि न तो मैं कोई बड़ा घुमक्कड़ ही हूं और न कोई बड़ा आदमी ही हूं जिसे इतनी दूर-दूर तक जाना पड़े जिससे वह भूगोल के विद्यार्थियों को जलवायु, वनस्पति, जानवर, उपज आदि के बारे में कोई विशिष्ट जानकारी दे सके। न अक्षांश और देशान्तरों का ही इतना फर्क पड़ता है कि मुझे अपनी घड़ी की सुई आगे-पीछे घुमानी पड़े। कपड़े उतारने या पहनने का सवाल ही पैदा नहीं होता। मोटे तौर पर यों ही समझ लो, कुण्डी के इस पार या उस पार।

सुजानगढ़ की क्या संज्ञा हो सकती है, गांव या कस्बा। मैं अभी तय नहीं कर पाया। जनसंख्या चालीस हजार से ऊपर है। झोपड़ियां आबाद हैं। सेठों की खाली हवेलियों में कबूतर बड़ी तबियत से गुटरगूं करते हैं। अगर संख्या ही सब कुछ हो तो खाली हवेलियों में रहने वाले कबूतरों की संख्या भी चालीस हजार से कम नहीं होगी।

चलो, कस्बा या गांव की बहस में नहीं पड़ूंगा। आज दिल्ली भी बावजूद लाखों-करोड़ों लट्टुओं के, दुनिया का सबसे बड़ा गांव कहा जाता है और कलकत्ता सबसे बड़ी गन्दी बस्ती तो फिर इसे तो 'गांवड़ा' कहना भी गुनाह है।

आजादी के बाद क्या बढ़ा, गांव या शहर? यहां भी बहस का खतरा है और बहस से बचो अपना तो मूल मंत्र है। बीच का रास्ता ही मिश्रित अर्थव्यवस्था की तरह इस देश की जीनियस के अनुकूल है। सीधी व सुरक्षित रास्ता तो यही होगा, अगर मैं कहूं कि न शहर बढ़ा, और न गांव।

अबाध रूप से कोई चीज बढ़ी है तो वह है—गंदगी, भूख, बेकारी और बकवास।

सुजानगढ़ न शहर, न गाव। पीने का पानी नही है वहां की जमीन मे। लोग आसमान की ओर ज्यादा देखते हैं बजाय जमीन के।

रेलवे स्टेशन के सामने कुछ दुकानें है जहां पूड़िया व पकोड़े मिलते है जिनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे बासी नहीं होते। तीन दिन पुरानी पूड़िया भी ताजी ही रहती हैं। कोई नही कह सकता कि कढ़ाई से कितने जन्म लिये हैं। द्विज से कम तो कोई होती ही नही। यहा की चाय भी एक विशेपता रखती है। चाय का फ्लेवर तो आसाम में रह जाता है। आसाम की उबली हुई चाय यहां फिर उबलती है और उबलती ही जाती है। एक बार, दो बार क्रम चलता ही जाता है। सब कुछ होते हुए भी चाय में उबाल बाकी है, उफान बाकी है। इसके पहले 'बासीकढ़ी' मे तो उफान कई बार देखा था।

मैं एक पैसेन्जर गाड़ी पकड़ता हू, अजमेर के लिए। वैसे तो इतना बडा जहान है, कौन किसका मुह पकड़े, जितने मुह उतनी ही बातें। मैं तो केवल एक बात जानता हूं कि अगर स्टीफेनसन आज जिन्दा होता और इस गाडी से यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता तो उसकी आत्मा बड़ी सुखी हुई होती, केवल एक बात से कि उसका ओरिजनल मॉडल आज भी आउट आव् डेट नही हुआ।

गाड़ी गति पकड़ती है और मैं खिड़की के पास बैठा हुआ दोनो आंखों से दो दिशाओं में देखता हूं। अन्दर भी और बाहर भी।

मुझे भी जैसे कोई उधार सलटाना है, बाथरूम की ओर चल देता हूं, पर बाथरूम खोला तो ऐसा लगा कि इसके बाहर एक नोटिस लग जाना चाहिए था 'ममनू'। मैं जिस शंका को लेकर गया था, वैठ गई और मैं अपनी शंका, छोटी या बड़ी, साथ लेकर लौट आया और अपनी जगह पर बैठ गया। चुपचाप।

मेरे सामने वाली सीट पर दो सज्जन बातों मे मशगूल हैं। बात से बात चलती है और बात-बात मे बहस शुरू हो जाती है। एक लेखा-जोखा शुरू होता है आजाद हिन्दुस्तान की प्रगति का, बढ़ते हुए चरणो का।

जनता सरकार, समाज : सभी पर छींटाकशी, अनछुआ कोई नही रहता ।

"हमने क्या नही सीखा ?" एक महाशय दलील देने लगे, "जहां सुई नही बनती थी वहां सुपरसोनिक जेट बनने लगे, नया 'हाऊ' आ गया ।"

'पर बाथरूम का प्रयोग तो नहीं आया,' मैंने मन-ही-मन कहा और खिडकी 'नो से झांकने लगा ।

मेरी आंखें एक पुराने साइनबोर्ड से जा टकराती है ।

कभी दो राज्यों की सीमा यहां मिलती थी । दो राज्य थे । दो राजाओं के अधीन । दो तरह के कानून । एक जैसी जमीन पर जमीन का बन्दोबस्त एक जैसा न था ।

एक जैसी खेजड़ियां, झाडियां, भोले-भाले लोग, पर राज्य दो, राजा दो ।

एक जैसी प्रजा पर फिर भी दो, ठीक उसी तरह जैसा कि कभी होता था हिन्दू पानी, मुस्लिम पानी ।

"यह कैसे था, क्यो था ?" मैं अपने अन्दर जगे हुए इतिहासकार को सुला देता हूं । आखें जा टिकती है चरती हुई भेड़ों पर ।

कुछ भेड़ें चरना छोड़ देती है और देखने लगती हैं गाड़ी को । गाड़ी मे भरी हुई भेड़-बकरियों को ।

सूखी धरती, 'लूखी' धरती, धरती पर जैसे घास उगती ही नही ।

जब धरती पर घास नही उगती तो फिर इनकी जिल्द पर ऊन कैसे उगेगी ? घास उगती है तो ऊन उगती है । घास से ऊन उगती है । इन हजामत बनाई हुई भेड़ों का क्या होगा ?

भेड़ का फर्ज है ऊन दे, वर्ना भेड़ भूनी जाएगी । भेड़ कतरी भी जाती है । अगर कतरने को कुछ नही तो काटी जानी है । भेड़ को सामना करना पड़ता है कैंची का, चाकू का । यह भी हो सकता है, भेड़ सारी की सारी 'रोस्ट' कर दी जाए । मुझे अखबार की बात याद आती है 'दनादन गोलियां चली और पचास को भून दिया गया ।' ये भी कोई भेड़ें ही होंगी । शायद ऊन नही उतरी होगी, मुझ पर उदासी उतर आई ।

भेड़ें पीछे रह जाती है । मुझे 'खेजड़ियां' भागती हुई नजर आती है । मैं गिनने लगता हूं, खेजड़ियां गिनने मे दिक्कत नही । गाड़ी की

मिलाया, फिर मिलने की आशा व्यक्त की। मेरे मुह से निकल गया 'अव रिवोयर'।

गाडी चल दी, उसकी वे मूँछें कटोरी जैसी, उसका वह अन्दाज, वह पाकदिली। इन सबका नक्शा मेरे दिल और दिमाग में सीमेण्ट की स्याही से लिख दिया गया।

नागौर जिले के बैल नामी होते हैं। नागौरी बैल का मुकाबला नही, पवन-वेग से उड़ता है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण जब रुक्मणी को भगाकर ले गये थे, उस समय रथ में जुते हुए बैल नागौरी नस्ल के ही थे।

परन्तु नागौरी आदमी ! लोग चाहे जो कुछ कहें परन्तु जिस धरती ने अमरसिंह दिया, एक मिस्त्री के लड़के के नाम से ही भारतीय संसद मे तूफान आ गया, आखिर उस धरती के बारे में यों तो नहीं कहा जाना चाहिए।

नागौरी बैल हांकने वाले चौधरी का बेटा एक बहुत बड़ा रथ हांकने में जुता हुआ है।

खैर, डिगाना देखने से एक बात तो समझ में आ जाती है, दीये तले अंधेरा। डिगाना जंकशन—गन्दगी का ढेर। जंगल मे गन्दगी।

ठीक स्टेशन के सामने मक्खियो की जूठन और वमन लिये हुए सड़ी-गली चीजें, सड़ती हुई नालियो के किनारे बहुत ही महगी कीमत पर बिकती हैं और खरीदी जाती है।

पडोस मे मकराना ताजमहल बनने के बाद कोई बन्द तो नही हो गया, परन्तु डिगाना में पक्के मकान कहा? *कुम्हार फूटी हांडी में खाता है।*

अजमेर के लिए पहली बस सुबह चार बजे मिलती है। मैं लेटा, सोने की कोशिश करता रहा और इधर-उधर से झपकी आती भी तो कुत्तों ने भौंक-भौंककर भगा दी। आवारा गायें लडती हैं, कुत्ते लड़ते हैं और फिर भौंकने मे 'कॉम्पीटीशन' करने लगते हैं। इस माहौल में रात गुजार देता हूं परन्तु मेरे कहने का मतलब कतई नहीं कि घर पर मुझे कोई इससे अच्छा माहौल मिलता है। वक्त का तकाजा हो तो कहना ही चाहिए कि दो और दो चार होते हैं।

सुबह चार बजे दो बसें एक साथ अजमेर के लिए रवाना होती हैं,

एक जितना किराया और एक जितना समय, मगर एक कच्चे रास्ते मे और एक पक्के रास्ते से। मैं पक्के रास्ते से रवाना होता हूं।

बस के इंजन का मोडल कौन-से सन् का है या हो सकता है, अच्छे से अच्छा मिकेनिक नहीं बता सकता, मेरी तो बात ही क्या ? 'मेक' का सन् तो वायुमण्डल में व्याप्त रासायनिक प्रक्रियाओं से ही घिसा होगा। स्कूल में भूगोल के पाठ में पढाया जाता था कि हवा-पानी व सूर्य की किरणों से टूट-फूट होती रहती है। इस पुराने ज्ञान से एक बात तो समझने को मिली वर्ना मैं भी उन लोगों के साथ होता जिनका खुला चार्ज यह था कि सन् जान-बूझकर उड़ाया गया और साथ में माइलोमीटर भी। खैर, अपने को इन बातों से क्या लेना-देना है। मेरी निजी धारणा तो यह है कि आज के रोले-रप्पे के युग में कानों को रोले-रप्पे से बचाओ वर्ना कानों के पर्दे फटने का डर रहता है।

इन बसों मे कोई हजार नुक्स निकाले, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन बसों में आमने-सामने बैठने वालों के दिल चाहे मिलें या न मिलें पर टांग से टांग तो टकरा ही जाती है। मैट और गद्दा जरूरी नही, खुली खिड़कियां, उछलती-कूदती मोटर चलती हैं उस पक्की सड़क पर जिसने कोलतार के दर्शन नहीं किए।

बस में बैठे हुए लोग, देखने में पूरे परम्परावादी, वही साफा, वही पोशाक, औरतों की और मर्दों की, जो इस भू-भाग के लोग सदियो से पहनते आए हैं। राजनीति-भूगोल, अर्थशास्त्र की गहराइयो का इन्हे पता न हो पर वैसे पूरे जागरूक गाय-बछड़े के पूरे हिमायती, समाजवाद के पूरे समर्थक। दिक्कत तो उन्हें उस समय होती है जब कोई पूछे कि—समाजवाद कहा तक तो आ गया है और कितना फासला अभी और तय करना है ?

मैं उन लोगों की बहस सुनने में लग गया। आजादी की सबसे बडी देन यह है कि आज बहस सब जगह चलती है—गाड़ी मे, बस में। संसद और विधानसभाओ का ठेका नहीं रहा। खैर, चलते-चलते बहस सितारों तक पहुंच गई।

"तारे को वोट कौन दे, दिन मे तारे दिखा दे।" मेरा पड़ोसी जिरह

अब घड़ियाल तो सरकार ने चम्बल में फिकवा दिए, पर पण्डे मौजूद हैं आज भी।

बस अजमेर पहुंचती है, अजयपाल का अजमेर, पृथ्वीराज का ननिहाल, जयचन्द का ननिहाल, ढाई दिन के झोंपड़े का अजमेर। अकबर तीन दिन में ऊंटनी पर चढ़कर आगरे से अजमेर आया था। अजमेर अजमेर है।

अजमेर शरीफ।

शरीफ और शरीफजादों की मर्दुमशुमारी होना बाकी है।

सिन्धियों के आने के बाद अजमेर शरीफ पहले से ज्यादा शरीफ हो गया है।

अजमेर शरीफ।

भीड़ अंधी होती है

एक पढ़े-लिखे काजी ने फतवा दिया 'भीड अंधी होती है'। आकाशवाणी के जरिये फतवे की गूंज सबके कानों में गूज गई। मैंने भी सुना।

एक दिन मैं भी भीड में फंस गया तो मुझे काजी की बात याद आई। अंधे की गपफी बड़ी भयकर होती है, जो भी चीज हाथ आ गई, बस उसकी खैर नहीं होती। पकड़ मे आनी चाहिए। हाथ हो या टांग हो। मैं भीड़ से घबराने लग गया। पर भीड़ में जो फंस गया तो उसे भीड़ में ही रहना चाहिए। भीड़ के अन्दर भागना नही चाहिए। भागने वाले को भीड़ मार देती है।

भीड़ के अंदर से ही मैं भीड़ को देखने लगा। मुझे दिखाई दिए तागेवाले, रिक्शेवाले, साइकिलवाले, ठेलेवाले, खोमचेवाले, चाट बेचनेवाले, तेली, तमोली, हम्माल, हज्जाम। ये सब मिलते हैं तो भीड़ बन जाती है।

मुझे काजी जी का फतवा याद आता है, काजी जी याद आते हैं। काजी जी दुबले-पतले, चश्मे वाले। काजी जी ने क्या सोचकर फतवा दिया होगा ? मैं भीड़ के साथ चलता भी जाता हूं और सोचता भी। क्या काजी भी गलत हो सकते हैं, मैं सोचने लगता हूं। "अगर भीड़ अंधी होती है तो तांगेवाले भी अंधे होने चाहिए। ये लोग फिर घर कैसे पहुंच सकते हैं ? हर तांगेवाला अपने घोड़े व तांगे के साथ शाम को घर पहुंचता है, सही-सलामत, बावजूद सड़क पर बने हुए खड्डों के तथा खुले हुए गटरों के। नगरपालिका की मेहरबानियों का गुणगान ये खड्डे और गटर करते हैं। यह अंधा तांगेवाला कभी इन गटरों में नही गिरता। सदेह स्वर्ग

पहुचना तो आज मुमकिन नही, पर मय तांगे और घोड़े के खुले हुए 'मेन होलो' मे तो घुस ही सकता है। पर ऐसा होता नही। सभी लोग अपने रैन बसेरो मे पहुंच जाते है। फिर ये अंधे कैसे ? अगर ये अंधे नही तो भीड़ अंधी कैसी ?

काजी जी ने क्या सोचकर फतवा दिया था ? मैं सोचने की प्रक्रिया जरा तेज कर देता हूं। मेरा दिमाग हाफने लग जाता है और दम फूलने लगता है।

रुकने का बहाना ढूढ़ता हू, एक दही-बड़े वाले के खोमचे के पास खड़ा हो जाता हूं। एक प्लेट दही-बड़े का आर्डर देता हू। खोमचे के आसपास एक क्यू। मगर वह ग्राहक देखकर तोडता नही। हो सकता है कि दही-बड़े बेचने वाले के यहां पर छोटे-बड़े का फर्क नही होता। सभी ग्राहक एक जैसे होते है। लोग अपनी जूठन की प्लेटें एक बाल्टी मे रख देते हैं। पैसे दिए और चल देते हैं।

"बाबू साहब, आपके ये दो सिक्के तो खराब है," खोमचेवाला अपने एक ग्राहक से बोला, "दूसरे दे दीजिए।"

"नही तो," ग्राहक बोला।

"नही कैसे ? मैंने कोई चश्मा थोड़े ही लगा रखा है। मुझे दिखाई देता है, वर्ना तो इस भीड़ मे जो मिर्ची मै दही-बडो मे डालता हू, कब का कोई मेरी आखो मे ही डाल जाता," उसने मेरे दही-बडो पर मिर्ची बुरकते हुए कहा।

मैंने उसकी आखो मे देखा, अपना चश्मा भी हाथ लगाकर देखा।

"माफ करना, मैं आपको नही कह रहा हूं," उसने किसी ग्राहक को लौटाने के लिए छीलर गिनते हुए कहा।

"ले भइया," अपने पैसे और डालता जा मिर्ची दही-बड़ों पर भी, और अंधी भीड पर भी," मैने एक रुपये का नोट बढ़ाते हुए कहा।

"भीड की आखो मे मिर्ची पाउडर क्यो ? इस महगे भाव की फिर तो, धूल ही डाली जानी चाहिए। पर यह भीड़ अंधी नही है बाबू साहब," वह जोर से हंसा और फिर कहना जारी रखा, "अगर यह भीड़ अंधी होती तो ठेलेवाले अपने ठेले भिड़ा देते, रिक्शेवाले रिक्शे टकरा देते,

भीड़ अपनी राह चल रही है, भीड़ अंधी नहीं है और न किसी से मिर्चें डलवाती है, परन्तु यह भीड़ बेबस जरूर हो जाती है जब कोई हवाई जहाज से मिर्चों का पाउडर छिड़कवा दे, चलती सड़क पर बिजली का करण्ट लगवा दे, उस समय बेचारी भीड़ क्या करे सिवाय आंख मलने के। इसी बीच जब इसकी जेब कट जाती है तो भीड़ चिल्लाती है। 'चोर, चोर'।"

"सारी भीड़ की एकमात्र जेब कैसे कट जाती है?" मैं पूछ बैठा।

"यह सीधी-सी बात भी आप नहीं समझे! यह ऐसे कि रात चीनी का भाव था पांच रुपये किलो और दुकानें खुलीं तो हो गया छह रुपये किलो। यह जेब किसकी कटी? भीड़ की ही कटी। भीड़ रोती है, चिल्लाती है, चोर-चोर। चोर को पकड़ो, तो प्रत्युत्तर में ऐलान होता है—"भीड़ अंधी है, इसे गोलियां खिलाकर चुप करो,". गोलियां खाकर वह सो जाती है, रोना-चिल्लाना बंद। कुछ अर्से बाद फिर तांगे चलने लगते हैं, ठेले चलने लगते हैं," उसने अपनी अंगुलियां पानी में डुबाईं और कंधे पर रखे कपड़े से पोंछ लिया।

"फिर?" मैंने उत्सुकता जाहिर की।

"मुझे अब इन ग्राहकों को सलटाने दो, वर्ना खोमचा ठंडा हो जाएगा। आपने तो मुझे नेता समझ लिया, जो कि बातें बेचता है। मैं दही-बड़े बेचता हूं, माफ करना, बाबू साहब, आपके पैसे आ गए," कहते हुए उसने दोनों हाथ जोड़ लिये, "आपके पास काफी टाइम दिखाई देता है, किसी नेता के पास जाइए।"

मेरी दिमागी घुटन खतम। मुझे लगा कि दही-बड़ेवाला दही-बड़े के अलावा कोई अच्छी चीज बेच रहा है। मगर उसकी चर्चा नहीं होती। न आकाशवाणी पर, न अखबारों में। मैं काजी जी वाली बात पर सोचने लगता हूं।

काजी जी के फतवे का क्या अर्थ हुआ?

काजी जी दुबले क्यों हैं, समझ में आता है। शहर का अंदेशा है।

मगर काजी जी ने यह फतवा क्यों दिया?

क्या फतवा किसी मजबूरी या लालच में दिया गया है? क्या कोई

कुछ कह सकता है ? पर एक बात जरूर है। काजी जी चश्मा क्यों लगाते है ?

क्या वे बिना चश्मे के अपने पैरों के आसपास की चीजें भी नही देख सकते ? काजी जी अंधे मालूम देते है। उन्हे बिना चश्मे के कुछ नहीं दिखाई देता। तब तो उन्हे फतवे देने का काम बंद कर देना चाहिए। अंधे को दुनिया ही अंधी दिखाई देती है। काजी जी अंधे तो भीड़ ही अंधी।

पर मजे की बात तो यह है कि फतवे देते है वे, जिन्हें दिखाई नहीं देता, जो हर तीसरे महीने अपने चश्मे के नम्बर और रंग बदलते हैं। दोपहर के समय लट्टू जलाकर रखते है। फतवे देते है वे, जो डार्क रूम में ही फोटो खीचते है, फोटो धोते है, रिटचिग करते हैं, फोटोग्राफिक ट्रिक करते है, एक फोटो की धड़ पर किसी धड़ का सिर ट्रांसप्लांट कर देते हैं। वे ही लोग डार्क रूम से ही ऐलान करते रहते हैं कि भीड़ अंधी होती है।

इस बार अगर काजी जी मिल गए तो उन्हे घसीटकर दही-बड़े वाले के पास ले जाऊंगा कि अपना फतवा जरा इसको सुना और समझा, नहीं तो इसकी बात सुन और समझ। आखिर भीड़ मे तो यह रहता है। अगर वह नही मानेगा तो चश्मा उतरवा लूंगा और कहूंगा कि काजियों की जरूरत नही है शहर मे, भाग जा।

बेगाराम की चिट्ठी प्रोफेसर के नाम

रूपनाथ की ढाणी
गोगा नवमी

प्रिय प्रोफेसर साहब,

आपकी चिट्ठी मिली। पढकर बड़ी खुशी हुई। तबियत हुई कि आपको ढेर सारे धन्यवाद दे डालूं। धन्यवाद देना वैसे कभी परम्परा का निर्वाह ही रहा होगा परन्तु आजकी तारीख मे सही हकीकत है। आप ही बताइए इस कमरतोड़ महंगाई के जमाने मे कोई किसी को लाख चाहे तो भी क्या दे सकता है सिवाय धन्यवाद के। बहुत करे तो अपना 'पोत'।

मैं आपको चिट्ठी का जवाब उसी वक्त देना चाहता था। भाव तो मेरे दिल में बहुत थे, परन्तु भाषा न थी। दिल की बात कागज पर कैसे उतारू, मेरी सबसे बड़ी दिक्कत थी। भावों को रखने का कोई पात्र या माध्यम तो होना ही चाहिए, परन्तु ऐसी कोई सूरत नजर नही आ रही थी कि बात का ढब बैठ जाए। इस आड़े वक्त मे भगवान ने मेरी बात सुन ली। मुझे एक मनचाहा आदमी मिल गया। सुनते है कि शहर में इस प्रकार की दिक्कत होती नहीं। पढा-लिखा आदमी किराये पर मिल जाता है। देखा जाए तो शहर की तो बात ही नही करनी चाहिए; वहां पर तो हर चीज किराये पर मिल जाती है। रोने के लिए लोग किराये पर मिलते हैं तो गीत गाने के लिए भी पैसा चाहिए। पैसा है तो मजमा लगवा लो, हंगामा करवा लो, अभिनंदन करवा लो। पर गाव मे ऐसी सहूलियतें कहा? इसी बात मे ही तो गांव शहर से पिछड़े हुए है।

खैर, किसी अच्छे ग्रह का अन्तर या प्रत्यन्तर ही समझिए कि मुझे

एक व्यक्ति मिल गया जो मेरे साथ लिखारा (लेखक, लिपिक) बनकर कार्य करेगा। जब एक लंगड़ा और एक अन्धा मिल-जुलकर कार्य कर सकते हैं तो हमें क्या दिक्कत हो सकती है। मैं बोलूगा और वह लिखेगा। भाव मेरे और भाषा उसकी।

शहर के बारे में तो अजीब-अजीब बातें हैं। सुनते हैं कि शहन में किसी चीज की जरूरत होती है तो अखबार में छपवा देते हैं। अखबार मे छपवा दो कि अंग्रेजी पढा हुआ, या अरबी पढ़ा हुआ व्यक्ति चाहिए, भाषण लिखने वाला व्यक्ति चाहिए, फिर देखो, 'लेण की लेण' लग जाती है। तबियत मुताबिक छांट लो। स्टेनो, सेक्रेटरी। फिर तबियत से भाषण झाड़ो, लेख छपवाओ। आपकी असलियत कभी खुलेगी भी नहीं। एम० ए० पास व्यक्ति पीकदान उठाने को मिल सकते हैं। शहर में तो मजे ही मजे हैं, बस शर्त इतनी-सी कि गाठ को अकल हो और जेब मे पैसे।

गांव के आदमी का रोग या उसकी विशेषता यह है कि वह सपाट होता है। अभिनय करना नही आता। जो बात दिल में है, वही जबान पर, वही चेहरे पर। अगर नाराज है तो नाराजगी छुपा नहीं सकता। वह हर स्थिति में जीता है। हर स्थिति में अपने-आपको घोलता है जबकि शहरी आदमी ऐसी स्थितियों में केवल मात्र अभिनय करता है। हाल ही में, मैंने ताजा-ताजा सिनेमा देखा। पर्दे पर एक भूमिका देखी, भिखारी की। हू-ब-हू भिखारी जैसा। लोगो ने दाद दी। कहते हैं कि उस अदाकार को इनाम मिला है, मेरे पास में बैठे हुए दो लड़के बात कर रहे थे। परन्तु बाहर आकर सड़क पर एक भिखारी देखा। सोलह आने भिखारी, जो भिखारी का जीवन जी रहा था, परन्तु कोई एक पैसा भी भीख में नही दे रहा था। मैं सोचने लगा 'भिखारी का अभिनय करे तो इनाम, खासा अच्छा इनाम, मगर जो जीवन जिए उसको एक पैसा भी भीख में न मिले, बड़ी ही विचित्र बात है।' मुझे शहरी और देहाती जीवन का फर्क समझ मे आ गया। एक शहरी व्यक्ति किसी अजनबी से मिलकर अभिवादन के बाद कहेगा—"आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई," परन्तु अगर कोई पूछ ले कि खुशी किस बात की, तो उसका जवाब होगा, "यह तो यों ही होता है।" और वह यो ही होता आया है पर

एक देहाती ऐसा नहीं कर सकता। उसको न तो अभिनय करना आता है और न दोहरी मान्यताओं के साथ दोहरी जिन्दगी जीना। वह तो सीधा और सपाट है, छुपाने को न तो कुछ है और न उसकी कला। एक जैसा, ऊपर से भी और अन्दर से भी।

शायद यही वजह रही होगी कि नगर का रहने वाला नागर कहलाया और गाव वाला गंवार। नागर का आगे चलकर अर्थ हो गया : चतुर, सयाना और गंवार का अर्थ हो गया फूहड़, जिसे बात बनानी नही आती, बात में बतरस घोलना नही आता। नागर लोग ही सही माने मे नागरिक हैं और नागरिक के साथ लिपटी हुई है नागरिकता।

उस दिन आपसे इस बाबत खुलकर बात हुई थी। बाद मे अकेले में सारी बात की जुगाली की तो एक बात अटक गई और गले नही उतरी।

नगर के लोग ही वस्तुत: नागरिक हैं। नागरिक शब्द आज चाहे रूढ़िगत हो गया हो परन्तु जिस समय इस शब्द का प्रचलन हुआ, उस समय नगर के लोगो की ही सब कुछ चलती होगी। आखिर पढ़े-लिखे थे वे ही लोग और इसी वजह से नगर को ही केन्द्रबिन्दु मानकर ही नामकरण किया होगा। गाव की शायद कोई 'से' न थी। यह भी सम्भव है कि उन्हें मत का अधिकार भी न रहा हो।

आज जब हम हिन्दुस्तान के नागरिको की बात करते हैं तो अचेतन मे कोई अदृश्य व्यक्ति पूछने लगता है।

क्या सारा हिन्दुस्तान कोई एक बहुत बड़ा नगर या नगरों का समूह है जो आप नागरिकों की बात करते हैं? आठ लाख गाव है इस देश मे, करोड़ो लोग वहा रहते हैं। क्या सम्बोधन के लिए आपकी भाषा में नागरिक के अलावा और कोई शब्द नही था। बात केवल शब्द की नहीं, मनोवृत्ति की है। आप देखिए विभाजन के बाद इस देश में लाखो लोग आए, हम उन्हें शरणार्थी कहने लगे, परन्तु शब्द की गन्ध सरकार और जनता को अखरने लगी और उन्होने सम्बोधन के लिए नया शब्द चुना—विस्थापित। सब ने कहा—यह ठीक है और अंग्रेजी में भी उन्हें 'रिफ्यूजी' के बजाय दूसरे नाम से पुकारने लगे। यह तो हमारे सामने हुआ। इसी प्रकार नागरिक मे नगर की गन्ध आती है, पर बोले कौन? नगर को

आपत्ति नही गांव समझा नही। उनमें इतनी समझ कहां कि उन्हें नागरिक शब्द में गांव की उपेक्षा नगर आये। ध्वनि तो यह भी निकलती है कि गाव वाले घटिया स्तर के लोग हैं।

आपने उस समय यह तर्क दिया था कि बराबर मत का अधिकार मेरी शका को निर्मूल कर देता है। पर इससे आगे न तो बात चलती है और न तर्क। मान लीजिए कि कल गाय, भैंस वगैरह को भी मताधिकार दे दिया जाए और उनके खुर के निशान लगाकर वोट डालने का कानून बन जाए तो? आज तो हम चुनावो मे 'सिम्बल' के रूप में गाय, घोड़ा, ऊंट वगैरह को याद करते हैं। मैंने चुनावो के दिनों देखा है। लोग नारा लगाते हैं, "हाथी सबका साथी। हाथी को वोट दो, घोड़े को वोट दो।" कोई कहता है कि घोड़ा जीतेगा। उधर ऊट के हमदर्द उसकी जीत के नारे लगाते हैं। जब हम घोड़े को वोट देते है, गाय को वोट देते है तो फिर घोडा वोट क्यो न दे? ऊंट वोट क्यो न दे? ऊंट चुनाव लड़ सकता है तो ऊंट को वोट का अधिकार क्यो न हो। शायद दुनिया के सबसे बड़े प्रजातंत्र देश मे ही इस प्रकार के क्रान्तिकारी कदम की पहल हो सकती है। इस अनोखी सूझ के लिए, सारी दुनिया इस देश का लोहा मानने लगे। मान लो, यह सब कुछ संभव हो जाए तो क्या हम मान लें कि गाय, भैंस, ऊंट को पूर्ण अधिकार मिल गए? अगर नही, तो फिर करोड़ों अंगूठाछाप लोगों के बारे मे क्या कहेंगे जो पाच साल मे एक बार गाय, भैस, ऊट को ही 'वोट' देते है, आदमी को नही।"

प्रोफेसर साहब, अपनी जाघ उघाड़ने से अपने को ही शर्म आती है। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि पांच साल में एक बार किसी गाय, भैंस, ऊट, घोड़े की पूंछ पर ठप्पा लगाने वाले इन करोड़ो अंगूठा छाप लोगों ने कभी यह क्यों नही सोचा—'क्या हिन्दुस्तान एक नगर है जो हम इसके नागरिक हुए। क्या और शब्द नहीं था जिससे इस देश के निवासियों को सम्बोधित किया जा सकता था?' बात शब्द की नही है, बात है मनोवृत्ति की। बात है नागर वर्ग के सोचने के तरीके की।

सुनते हैं कि आज स्कूलो मे नागरिकता की शिक्षा दी जाती है, पर नागरिकता में क्या सिखाते होंगे सिवाय इसके कि नागर व्यक्ति इस प्रकार

बैठता है, इस प्रकार बोलता है। उसके सोचने का तरीका ऐसा होता है। ये सारी चीजें मिलकर नागरिकता बन जाती हैं। आप लोगों ने उसे सामाजिक मान्यता दे दी। उधर गाव के लोग संख्या मे चाहे ज्यादा ही रहे हो, पर उनकी चली नही। उनकी जीवन-पद्धति, रीत-रिवाज वगैरह गंवारू ही रहे। मोटे-तौर पर, इतिहास के दौर मे दबदबा रहा शहर का और गांव घिसटते रहे पीछे-पीछे। व्यवस्थाए दी नागर लोगो ने; गंवारों ने उसे 'सिर मत्थे' रखा। आज तक का इतिहास उठा लो। आप लोगों के ही नियम। नियामक व निर्णायक रहे आप लोग। आप ही वकील। आपने ही साहित्य रचा, कानून बनाए। नागर वर्ग को स्तुत्य प्रस्तुत किया और हमे उपहास के पात्र। हमारी कीमत पर हंसे। पर मजे की बात तो यह कि अपने ही मजाक पर हंसते रहे यदि कभी-कभार हमारी सहानुभूति मे दो शब्द लिख दिए या कह दिए तो हम तहेदिल से शुक्रिया करते रहे। हमने कभी विरोध नही किया और न किसी प्रकार का 'प्रोटेस्ट मार्च'।

अब आपसे सवाल है, प्रोफेसर साहब ! आज तक तो गंवार लोगों के भेजे में यह बात नही आई कि उनके साथ ठगी होती रही है, परन्तु जिस दिन यह बात समझ मे आ गई, तब क्या होगा? जिस दिन भी यह बात अच्छी तरह से समझ में आ गई तो सारे झगडे भुला दिए जाएंगे और नया झगडा शुरु होगा।

गांव बनाम शहर, गवार बनाम नागर।

ज्यो ही झगड़ा शुरू हुआ, दो 'पाले' तैयार। हम ललकार देकर कहेंगे कि हो जाए कबड्डी—सीधी कबड्डी, दो वर्गों के बीच।

आप सोच लो, कबड्डी मे सास किसका टूटेगा? नागर कबड्डी के लिए तैयार नही हुआ तो हम शहर का घेरा डाल देगे। गांव और शहर के बीच पहिले ही दौर मे खाई नही तो कम से कम बाड तो जरूर खड़ी कर देंगे। गाव मे शहर का कोई पिछलग्गू होगा तो उसको बाड़ के उस पार फेंक देंगे। गाव और शहर के बीच हुक्का-पानी बद। न किसी प्रकार का लेन-देन न किसी तरह का सम्पर्क। फिर देखना है इन नागरो को, इन शहरों को। हम लोग तो जी लेंगे। गाव तो भूखा-प्यासा, आधा नगा रहकर भी जी लेगा, परन्तु शहर मर जाएगा। शहर को मरते देर भी नही लगेगी।

-आपने महसूस किया या नहीं, एक बात और है। शहर मूलत: एक चालू जानवर है जो चरना ही जानता है, खूब खाता है और खाता ही जाता है। सब कुछ खा जाता है—चीनी, दूध, कपड़ा, बिजली। और हमारे लिए कुछ नहीं छोड़ता। हमारा कोटा कट जाता है।

शहर एक 'कन्ज्यूमिंग सोसायटी' होने के साथ-साथ अपने स्वार्थ के सिवाय कुछ सोचता नहीं। उसकी मांगें सदैव यही रहती हैं कि अच्छी-अच्छी सड़कें वहां हों, दिन में बिजली के लट्टू जलें। अच्छे-अच्छे कालेज हों, अस्पताल हों, नवीनतम सुख, सुविधा हो, यहां तक भी ठीक है। पर ये सब चीजें गांव की कीमत पर हों, कैसे गवारा हो सकता है? गांव उजड़े और शहर जिंदा रहे, बर्दाश्त करने लायक चीज नहीं है। कोई बताये तो सही, शहर क्या होना है सिवाय बीमारियां, गनोरियां, धुआं, घुटन और अशुद्ध वायु के।

नागर वर्ग हकीकत में एक 'खाऊ पीर' समाज है। हमने भूखे रहकर इस वर्ग को खिलाया, पर इसके एवज में हमें क्या मिला, यह बात हम जानते हैं। एक बोझ। गोरे आदमी का बोझ काला आदमी ढोता रहा और नागर का बोझ एक गंवार। पर अब हम यह मलबा और अधिक नहीं ढो सकते। पानी सिर के ऊपर से बहने लग गया है, वे 'एलीट' (नागर) बने रहे और हम गंवार। आप उस स्थिति का अंदाज लगाइए : कानून बनाए वे, नियामक और निर्णायक वे, अपील करें तो उनसे ही। हमारा फर्ज तो यही रहा कि हम उनका आदेश मानते रहें, वे कहें जहां अगूठा लगा दें। जैसा हुक्म हुआ, हाथ खड़े कर दिए, सिर हिला दिया, 'हां' कह दी, 'ना' कह दी। इशारा हुआ तालियां बजा दीं। इस तरह से शहर के जेरे-साये गांव जिया, एक जलालत की जिन्दगी। शहर सुरसा की तरह बढ़ते रहे और गांव उसका उपनगर बनने में ही अपना अहोभाग्य समझता रहा। इसके लिए कुर्बानी दी अपनी स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र सत्ता की। शहर बढ़ता रहा, गांव सिकुड़ता रहा।

प्रोफेसर साहब, अब हकीकत बेनकाब है। अब यह स्थिति न तो सह्य है और न उमूलन सही जानी चाहिए। फोड़ा नश्तर मांगता है नश्तर तो लगना ही चाहिए। शरीर को खतरा मंजूर नहीं। 'डेड सेल्स' शरीर में

पचते नहीं। नये 'ग्रेन्यूल' बनने ही चाहिए।

मेरी शंका अब पक्की हो गई है कि पढ़ा-लिखा वर्ग सच्चे मानी मे पुश्तैनी पढा-लिखा वर्ग माने मे ईमानदार नही है। वह कतई नही चाहता कि कोई नया वर्ग पढ जाए क्योंकि वह एक जगह आसन जमाकर बैठा हुआ है और वह वहा से हटना नही चाहता। आज पढ़े-लिखे लोग कौन है? वे ही मुशीजादा लोग, जिनके बाप-दादे अंग्रेजो, मुगलों, मराठों वगैरह के जमानो मे कलम घिसते रहे, कभी अरबी मे, फारसी में, अंग्रेजी मे। सो मेरा कहने का मतलब है कि यह पढ़ा-लिखा वर्ग पीढी-दर-पीढी से चले आ रहे अनपढ़ों को तथा उनकी सन्तान को पढाना-लिखाना तो दूर, उलटी लंगड़ी मार देगा। यह बात आज की नही है, युगो से चली आ रही है। किसी भी युग मे विद्या को सीधा व सादा सरल नही होने दिया बल्कि उसे 'जन्तर-मन्तर' बना दिया। सीधी-सादी बात को घुमावदार व पेचदार बनाया गया। इसे पढ़े-लिखे लोगों की साजिश ही कहना चाहिए कि जगह-जगह पढ़ाई में पेच डाल दिया गया। बोलो कुछ, लिखो कुछ। सुनते हैं कि अंग्रेजी मे हिज्जे और उच्चारण में बड़ी गड़बड़ है। आखिर यह एक साजिश है जो हर पढ़ा-लिखा आदमी करता है और करता आया है। कहते हैं कि डाक्टर लोग अपने नुस्खों में पानी जैसी चीज को भी अपनी सांकेतिक भाषा मे लिखेंगे। आप ही बताइए यह एक 'ट्रिक' नही तो क्या है?

आप लोग बहुत ही सहानुभूति प्रदर्शन करते रहते हैं गांव के प्रति। देखने वालो को लगता है कि आपसे बढ़कर कोई हमदर्द नही है हमारा, इस जहां में। मगर, बात को थोड़ा खोदा जाए या कुरेदा जाए तो साफ नजर आने लगता है कि आप लोग हमे कोरा 'डोका' (डण्ठल) गिटाते हैं। सारी सहानुभूति स्वांग लगती है। भूख रोटी से भागती है न कि रोटी की बात से। क्या आपसे छुपा हुआ है कि हमे सहानुभूति नही चाहिए, हमे चाहिए साझेदारी, शिरकत। देश की योजनाओ मे, राज में, काज में, भावी कार्यक्रम मे। हमारा हाथ हो, उन तमाम व्यवस्थाओं में जो इस देश मे लागू हो, तमाम योजनाओ और प्रायोजनाओं में हमारी पूछ हो जो इस देश के लोगों के लिए बनी है या बनाई जा रही है। हम भागीदार हों।

तमाशबीन बनकर न रहेंगे और न ऐसी स्थिति में बर्दाश्त करेंगे। परन्तु क्या नागर वर्ग सही माने में गंवारों को अपने समकक्ष लाने के लिए मानसिक रूप से, पूरी ईमानदारी से, ऐसा सोचता है ? आपके उत्तर का तो मैं अनुमान नहीं लगा सकता, पर अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि गड़बड़ी यही है। शाब्दिक सहानुभूति मौजूद है, पर इसके आगे उनकी मंशा नहीं। इंशा अल्लाह कुछ होता नहीं।

मैं हाल ही की एक ताजा बात सुनाता हूं। कई दिन पहले हमारे यहां एक शिविर लगा। शिविर लगाने के पीछे इरादा था कि एक गोष्ठी हो जाए। संविधान में दिए गए मूल अधिकारों तथा निर्देशक तत्त्वों पर खुलकर बात हो। बात शुरू हुई। चर्चा होने लगी। बात बांसों ऊंची उछलने लगी। दुनिया-भर के देशों के संविधानों की बातें। बिना टांग-पूंछ की बातें। आसमान-पाताल एक हो गए। हम लोग उनका मुंह देखने लगे और ताकते रहे कि कोई काम की बातें कहे। शिविर कोई थूक उछालने के लिए तो हुआ ही नहीं। आखिर हमसे रहा न गया और हममें से जेसाराम पूछ बैठा—

हमें इस देश के संविधान की बात बताओ, दुनिया बहुत बड़ी है। इसमें भी मोटी-मोटी बातें जिन्हें हम अंगुलियों के 'पोरों' पर रख सकें, गिन सकें, एक, दो, तीन'''। बात इतनी-सी थी कि परन्तु वक्ता महोदय चुप, जैसे कि चलते हुए को लंगड़ी लगा दी हो। फिर कुछ देर बाद हकलाते हुए कहने लगे, "तुम संविधान की बारीकियां नहीं समझते, तुम बात सुनो। अगर तुम्हारी समझ में न आए तो चुप रहो, बेकार बोलने से वक्ता के काम में रुकावट पड़ती है।" पास में बैठी हुई विद्वत् मंडली ने भी सिर हिलाकर बात की ताईद कर दी। खैर, कई कारण और भी हो सकते हैं, परन्तु विद्वानों की मण्डली एक पूर्वग्रह से ग्रसित दिखाई पड़ी। उनके हाव-भावों से, मुखमुद्राओं से साफ झलकता था कि देहाती भी एक तरह की भेड़-बकरियां हैं जिन्हें मिमियाने के सिवाय कुछ नहीं आता। भेड़-बकरियां फिर संविधान की बारीकियां कैसे समझ सकती हैं ? मुझे वक्ता महोदय पर दया आई और गुस्सा भी। दया तो इस बात पर कि यह पढ़ा-लिखा आदमी बिना कागज बोल नहीं सकता एक शब्द भी, और ऊपर से यह

हेकड़ी। गुस्सा इस बात पर कि इस प्रकार के पढ़े-लिखे मूर्खों के हाथ मे देश की बागडोर दे दी गई तो भगवान ही इस देश का मालिक।

अध्यक्ष ने बात का मुह मोड़ने के लिए एक नया सवाल फेंका—

"आप ही बताइए आप इन चर्चाओ से क्या समझे ?"

जेसाराम तो बैठ गया। मुझे खड़ा होना पड़ा। मैंने निवेदन किया कि यह संविधान हमारी नयी रामायण या गीता है। पुराने जमाने मे लोग रामायण या गीता की शपथ खाकर बात कहते थे और आज हमारे विधायक व सांसद इसके हाथ लगाकर हलफ उठाते है। फर्क बस इतना-सा है। गीता भगवान ने बनाई और संविधान बनाया इस देश के लोगों ने। भगवान की बनाई हुई चीज मे तरमीम नहीं होती परन्तु आदमी की बनाई हुई चीज में तरमीम भी हो सकती है और तामीर भी। शर्त बस इतनी-सी है कि इस देश के लोगों द्वारा इस देश के लोगो के लिए बनाया गया दस्तूर सौ मे से इक्कावन आदमियो के हितों का जामिन हो। अगर यह शर्त पूरी नही होती तो संविधान में संशोधन होगा। इस संविधान के अन्तर्गत बना हुआ हर कानून यह शर्त पूरी करेगा वर्ना वह कानून गलत होगा। यही बात मूलरूप में मौजूद होनी चाहिए। इन मौलिक अधिकारो मे तथा निर्देशक तत्वो मे। मेरी तो यही कसौटी है। यही बात सूघता हूं इस संविधान की हर धारा में, हर शब्द में, हालांकि पढ़ना मुझे नहीं आता।" यह कहकर मैं बैठ गया। कुछ अस्पष्ट-सी कानाफूसी चली। मेरी दलील में दाल-भात मे मूसलचन्द नजर आया।

संविधान के पंडित मेरी बात पचा नही सके। बात भी जायज है। वे लोग तो संविधान के पूर्णविराम और छोटे-से नुक्तों पर घंटों बहस कर सकते है और मूल मे वे कमाई भी इसी बात की खाते हैं। मेरी बात तो उन्हे धूल मे लट्ठ नजर आयी। एक सज्जन कहने लगे, "तुम संविधान की भाषा ही नही समझते और न यह तुम्हारे बस की बात है। मुझसे भी रहा न गया और मुंह से निकल गया, तुम संविधान के प्राण नहीं समझते। इसकी रूह तुम्हारे हाथ नही आई। छोटी-मोटी तू-तू मैं-मैं भी हुई पर बात खत्म हुई। शिविर खतम।

मेरे लिखने का मतलब बस इतना-सा हो रहा है कि आज हमारे और

आपके बीच खाई है। एक अलगाव की स्थिति आ गई है या लादी गई, शनैः-शनैः। भद्र और अभद्र के बीच। गांव और शहर के बीच।

प्रोफेसर साहब, हमारी भाषा सीधी-सादी परन्तु आप लोग सीधी-सादी बात समझने के आदी नहीं बल्कि सीधी-सादी चीज को चक्करदार बना देते हैं जिसके कारण हम लोगों का सिर चकराने लगता है। यही है वह विभाजक रेखा जो आपको और हमें एक-दूसरे से अलग करती है।

प्रोफेसर साहब, मुझे डर है कि यह स्थिति शीघ्र ही न सुधारी गई तो हालत खतरनाक हो जाएगी। दोनों के बीच सम्पर्क-सूत्र टूट जाएगा। दो वर्गों की दो भाषाएं हो जाएंगी। एक-दूसरे के लिए अजनबी। फिर साथ कैसे चलेगा? निर्वाह नहीं होगा।

सुनते हैं कि ऐसी स्थिति पहली बार ही नहीं हुई है। पुराने जमाने में भी कई बार ऐसा हुआ है। एक बार की बात बतलाते हैं। हालात भी आज जैसे थे। बड़े-बड़े लोग थे। सारे शास्त्र कण्ठस्थ थे, परन्तु थे सभी के सभी स्वार्थी और दम्भी। साधारण की बात न तो सुनते थे और न समझने की कोशिश करते थे। इन सब चीजों का नतीजा यह हुआ कि अभद्र लोग भद्र लोगों से अलग-थलग हो गए।

ऐसी हालत में, एक आदमी आया और उनकी ही भाषा में ऐलान किया कि अपने आस-पास के लोगों को तड़पता हुआ छोड़कर स्वर्ग की तमन्ना करना भी पाप है। मुझे ऐसा स्वर्ग नहीं चाहिए। उसने ये सारी बातें कहीं 'जनभाषा' में जो सबकी समझ में आ गई। जनता उसके पीछे हो गई। कारण केवल इतना ही था कि जनता पंडित लोगों से बुरी तरह से कट चुकी थी। ये पंडित लोग बात का इतना महीन सूत निकालते थे कि प्रथम तो 'सूत' ही नजर नहीं आता था और अगर वह 'सूत' पकड़ में आ जाता तो धागा टूट जाता। कभी-कभी उलझ भी जाता। बेचारा साधारण आदमी 'रास्ता चूक' और दिक्भ्रमित।

लोगों ने कई बार सामूहिक रूप से कहा भी बतलाते हैं कि शास्त्रों तथा उपनिषदों की बातें हमारी समझ में नहीं आती हैं, हमें उस बोली में समझाओ जो हम समझते हैं। इनकी टीका करो 'जनभाषा' में। परन्तु जो साधारण आदमी भी सुने वह पंडित कैसा? उन्होंने टीका को मूल से

दुरूह बना दिया। वे तो ऊपर की ओर ही देखते रहे, चांद-सितारों की ओर। ग्रहों की चाल-ढाल देखते रहे, ज्योतिष की बात करते रहे। टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींचते रहे, परन्तु कभी अपने पैरों के आस-पास देखने की कोशिश नहीं की।

परन्तु इस बार 'जनभाखा' में ऐलान करते हुए सुना, मानव-मात्र के दुखों की निवृत्ति का नुस्खा सुना तो उनकी समझ मे आ गया कि निर्वाण क्या है, मोक्ष कहा है। लोग चिल्ला उठे, "यह तो बुद्ध है।" बहुत समझाया कि यह तो राजकुमार सिद्धार्थ है, परन्तु कौन सुनता? वह तो बुद्ध ही रहा और सारे के सारे पंडित बुद्धू रहे।

प्रोफेसर साहब, यह क्या हुआ, कैसे हुआ? राजकुमार सिद्धार्थ को संस्कृत का ज्ञान न हो, जंचने वाली बात नही। फिर यह 'जनभाखा' का माध्यम क्यों? राजकुमार सिद्धार्थ के दिमाग मे भी क्या बहुत कुछ इसी प्रकार के विचार और प्रतिक्रिया नही हुई होगी? तत्कालीन परिस्थितियों में अलगाव की स्थितियों से बचने के लिए, वर्गभेद मिटाने के लिए क्या यह सब कुछ नही किया? बोधिवृक्ष के नीचे और क्या ख्याल आया होगा? राजकुमार सिद्धार्थ ने सवाल का दोहन किया और समाधान ढूंढ़ लिया।

अगर आप इतने दूर नही जाना चाहते तो आप ले लो नानक, कबीर, रैदास, जांभा वगैरह को। उन्होने भी बात की 'जनभाखा' मे। लोगों की जमात उनके पीछे हो गई। लोगों ने बना दिया किसी को पीर तो, किसी को पैगम्बर। जब नानक-कबीर वगैरह ने बात की तो दिल खोलकर बात की, बिना किसी लाग-लपेट के। नतीजा यह हुआ कि उनकी बात लोगों के गले में उतर गई। उनकी बात 'बाणी' बन गई, शब्द बन गई। उनकी 'बाणी' व 'शब्द' भजनों में गाए जाने लगे। आज भी सैकड़ों वर्षों बाद हम लोग उनकी वाणी बोलते हैं, 'शब्द' दोहराते हैं। भजन गाते हैं तन्मयता के साथ। इसमें रहस्य की बात नही। बात सीधी-सी है दिल से निकले हुए 'शब्द' और 'वाणी' सीधे दिल मे घुस जाते हैं। इतनी-सी बात है।

सो, प्रोफेसर साहब, मेरा तो कहना यही है कि अगर आप सचमुच किसी तालमेल की तलाश में है और तहे-दिल से चाहते हैं कि इस देश के लोग देश-निर्माण के महान् यज्ञ मे बराबरी के स्तर पर भाग लें तो आपको

अपना रुख बदलना होगा। कनाडा में कुछ नहीं धरा, विलायत में कुछ नहीं रखा है। कस्तूरी के मृग की बात है। हां, एक बात और स्पष्ट करनी होगी। यदि आप हज के लिए कनाडा या अन्यत्र जाना चाहते हैं तो बात दूसरी है, हमें कुछ नहीं कहना है। लोग गायों के नाम से चंदा मांगते हैं पर असलियत में वे अपने परिवार को ही गोशाला समझते हैं। यह तो हुई धन्धे की बात, लेबल चाहे कुछ भी हो। आप भी हज कर आइए तथा अपनी रोटी सेंकते रहिए; परन्तु अगर आपका जरा भी बिरादराना लगाव है हमसे, *तो बात करिए हमसे। आप हमारी तरफ मुह करिए, पीठ नहीं।*

प्रोफेसर साहब, मैंने अपने दिल की बातें कही हैं, आपसे। सहज भाव से, जैसा कि मैंने महसूस किया। आप विश्वास रखिए, मैं न तो किसी के चक्कर में हूं और न मैंने कोई नया *'भैरू'* ही बनाया है। न मेरी प्रेरणा किसी रंग की किताब से जागी है। वक्त का तकाजा देखता हूं। बेमतलब की देरी से बात बिगड़ने का डर है। अभी तो 'बेटी बाप के घर' ही है। परन्तु पासा पलटने में देर भी नहीं लगा करती और न वक्त ने कभी ठहरकर कहीं विश्राम ही किया है।

आपके पत्र की प्रतीक्षा में।

राम-राम के साथ।

भवन्निष्ठ

दी बेगाराम

बकलम दीर्घचक्षु

आलू की सभ्यता

बात चली कि चलने लगी। बात में से बात निकलने लगती है। बात की चाल भी ग्रहों की चाल की तरह अजीब होती है। कभी-कभी तो जरा सी ही चली कि बकरी होकर दंगल के दलदल में फंस जाती है। बात बन जाती है नौ मण की, अटक जाती है। इसके विपरीतकभी-कभी बात उड़ती हुई इतनी द्रुत गति से चलती है कि उसके सामने सुपर सोनिक जैट भी क्या करे। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक एक ही छलांग में।

हां, तो बात चल रही थी, आधुनिकता की। मॉडर्निटी की। व्यवहार में तथा विचार में। मोटा सवाल था, आखिर आधुनिक किसको माना जाए? आधुनिकता का मापदण्ड क्या हो? व्यवहार में तो यह देखने में आया कि लोग आधुनिकता का मुखौटा लगाये रहते हैं और उस मुखौटे के नीचे छुपा रहता है उनका बोदापन। जरा-सा भी कुरेदा तो फिर उसका भोंडापन निकल आता है। ढकने के लिए संस्कृति की चद्दर पास में रहनी चाहिए। प्लास्टिक सर्जरी सब क्षेत्र में छा गई है।

"तो आपके हिसाब से," एक सज्जन कहने लगे, "आधुनिकता का मापदण्ड मुंह बोलता हुआ हो। आपके हिसाब से न उसके विश्लेपण की आवश्यकता रहे और न किसी प्रकार की बहस की गुंजाइश।"

"ऐसा मापदण्ड तो मैं बताए देता हूं," मेरे पास में बाईं तरफ बैठे हुए सज्जन कहने लगे, "आधुनिकता का मापदण्ड यह है कि कौन कितना आलू पैदा करता है तथा कितना आलू खाता है। यह बात व्यक्ति तथा देश दोनों के लिए लागू होती है।"

"यह तो बताइए कि आपके दिमाग की ही उपज है, या इसका कोई

और आधार भी है ?" मेरे दाहिनी तरफ बैठे एक सज्जन बोल पड़े।

मजलिस चुप। सबकी आंखें बायें-दायें दोनों तरफ घूम गईं।

"आप हतप्रभ कैसे दिखाई देते हैं ? जब ख्रुश्चेव भारत में आए थे तब उन्होंने एक सार्वजनिक मंच से यह बात कही थी, और वह भी खासा जोर देकर। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने रूस में आलू-उत्पादन के आंकड़ों से रूस की प्रगति की सफलता का प्रतिपादन किया था।"

वामांगी सज्जन ने अपनी दलील के पीछे ख्रुश्चेव के नाम की सील लगा दी।

"बात जमी भी है और जंची भी है," मैंने भी अपनी बात मजलिस में फेंकी।

"कनाडा को ले लीजिए, वहां अन्यान्य देशों से लोग आलू उखाड़ने जाते हैं। हमारे देश से भी बहुत सारे लोग आलू उखाड़ने गए और वहां पर आबाद हो गए।

"ख्रुश्चेव कोई अथोरिटी थोड़े ही है। उसकी मानते नहीं उसकी बिरादरी के लोग भी। 'जांत-पांत' से बहिष्कृत को आप पेश कर रहे हैं, कमाल है।"

मेरे दायीं ओर से प्रतिक्रिया।

आप तो सब जानें जब किसी वेदव्यासजी ने कहा हो, उपनिषद् में कहा गया हो, परन्तु बेचारे वेदव्यास जी के साथ दिक्कत यह थी कि उन्होंने तो आलू खाए ही नहीं थे। उन दिनों चावलों का चलन था, इसलिए चावल का जिक्र किया, और चावल से सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चलकर चावल में भी यह देखा जाने लगा कि वह अक्षत हो। अगर अक्षत नहीं तो चावल नहीं। बस सारा जोर चावल से हटकर अक्षत भाग पर पड़ गया। जो अक्षत नहीं वह ग्राह्य नहीं। चाहे चावल या बीवी। अक्षत की शर्त अनिवार्य। यह थी चावल की सभ्यता का मापदण्ड। खुदा न खास्ता अगर वेदव्यास जी वगैरह ने आलू की टिकिया वगैरह खाई हुई होती तो वे अष्टादश पुराण और ही तरह से लिख जाते। कोरा चावल खाकर तो कोई जिन्दा नहीं रह सकता। बेरी-बेरी का रोग हो जाता है, रतौंधी हो जाती है। बस यही बात है चावल की सभ्यता में। पुराण पढ़ते

रहो, रतौंधी नहीं होगी तो फिर क्या होगी ?"

एक और प्रतिक्रिया।

"इसका मतलब क्या यह समझा जाए कि आलू खाना आधुनिक होने का सबूत है ?" मेरे मुंह से निकल गया।

"इसमें क्या दो राय हो सकती है ? जो देश जितना सभ्य होगा, वहां आलू का उत्पादन ही अधिक होगा। यही बात व्यक्ति पर लागू होती है। 'अल्ट्रा मोडर्न' आदमी आलू के सिवाय कुछ खाता ही नहीं, मेरा मतलब 'वेज डाइट' से है।" मेरा वामांगी दोस्त कुछ और भी कहता कि मेरे मुंह से निकल गया—

"केवल आलू ही आलू।"

"आलू को आप क्या समझते हैं ? आलू से एक हजार प्रकार के व्यंजन बन सकते है। आलू से खीर, परांठे, हलवा वगैरह न जाने कितनी ही चीजें बन जाती हैं।" आवाज में कुछ गुस्सा था।

"पर यह तो आलू की उपादेयता की बात हुई, इसमें आधुनिकता कहां घुस गई ?" मैंने दलील दे दी।

"दिक्कत तो यही है कि आप लोग न तो समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। आलू सब्जी भी है और अनाज भी है। इसको दोनों ही तरह से खाया जा सकता है। आधुनिकता की सबसे बड़ी कसौटी तो यही है कि चीज की 'मल्टी परपज' उपयोगिता हो। आलू में ये सारी विशेषताएं हैं। इसको आदमी और जानवर दोनों ही खा सकते हैं। मजाक की बात नहीं है, जरा गम्भीरता से सोचिए। आलू मे एक और विशेषता है।"

"वह क्या ?" मेरी जिज्ञासा को सब्र न रहा।

"आलू में असीम क्षमता है विकास की और सम्वर्द्धन की। सुरसा को मात मिलती है। आलू एक छटांक में चार भी तुलते है और अकेला आलू चार किलो का भी हो सकता है। पृथ्वी के ग्रह पर विस्फोट की गति बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का समाधान भी आलू-उत्पादन से ही संभव है। आने वाले समय में इतनी जगह इस सिकुड़ती हुई धरती पर कहां रह जाएगी कि सब्जी और अनाज दोनों ही अलग-अलग उगाए

जाएं।"

मुझे एक मजाक सूझा, "गांधीजी की ट्रस्टीशिप व्यवस्था में कीड़ी को कण और हाथी को मण की व्यवस्था है। आलू की सभ्यता में कीड़ी को छोटा आलू दिया जा सकता है और हाथी को बड़ा आलू। बस दिल जलने वाली स्थिति नहीं रहेगी। 'डोल साइ' आलू दे दिए जाएंगे। आखिर, हम जो खोपड़िया गिनने के आदी हैं, आलू गिनने लगेंगे। कोई दिक्कत नहीं।"

"आप लोग तो आलू-माहात्म्य की बात करने लगे। आलू की आखिर फूट वेल्यू क्या है?"

मेरे दाहिने ओर बैठे हुए सज्जन अपनी झुंझलाहट पर काबू न पा सके। उछल पड़े। "हमारे सामने समस्या है 'फूड' की। समस्या है खाली पेटों को भरने की। जो पेट धतूरा मिले हुए माइलो को हजम कर सकते है, महुए की घास को पचा सकते है, उनको 'फूड' चाहिए। 'वेल्यू' तो गौण है। आलू से बढ़कर कोई और चीज नहीं। एक नया नारा ईजाद हो सकता है। एक आदमी एक आलू। एक खासा-अच्छा नारा बन जाएगा।"

सारी मज़लिस नारे के नाम से हंस पड़ी।

"आप हंसना चाहें तो हंसिए। आज की परिस्थितियों में लोगों को जब बात समझ में नहीं आती तो वे अपनी प्रतिक्रियाएं दो ही तरह से व्यक्त करते है, हंसकर या हूटिंग के द्वारा। आप भी ऐसा कर सकते हैं, परन्तु मेरा तो कहना है कि 'एक आदमी, एक आलू' के सिद्धांत को यदि अमली जामा पहनाया जाए तो खाद्यान्नों में 'एडलट्रेशन' की बीमारी भी पकड़ में आ सकती है, परन्तु आलू में तो आलू ही मिल सकता है।"

वामांगी दोस्त की मुखमुद्रा गंभीर थी।

"ये तो बिलकुल नयी जानकारियां हैं जिनका पता तो शायद ख्रुश्चेव को भी नहीं था।" एक उड़ता हुआ कमेण्ट।

"इसी वजह से तो उसे संशोधनवादी कहा गया। उसे 'पटेटो कल्चर' की पूरी जानकारी नहीं थी।" दूसरा कमेण्ट।

"बात चल रही थी आलू की फूड वेल्यू की और उसके साथ चिपका दी गई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति। बात चल रही थी खाद्य समस्या की ओर

उसमें घुसेड़ दी गई राजनीति। कमाल है!" एक कोने में बैठे हुए सज्जन और अधिक मौन न रह सके।

"राजनीति भी एक फूड है, आप समझे नही।" पास बैठे हुए सज्जन उन्हे नयी थीम समझाने लग गए।

"बड़ी अजीब बात है!" उनके गले बात उतर नही रही थी।

"अजीब-वजीब कुछ नही है। खाद्य-समस्या भी अपने-आपमे एक राजनीतिक समस्या है।"

"आप कहना क्या चाहते हैं?" उन्होने गुर्राकर उनकी आखों में देखा। बात का वेल्यू सरककर एक कोने मे चला गया और सभी के कान और आखें उधर की ओर मुड़ गईं।

"मैं कह नही रहा हूं वल्कि अर्ज कर रहा हूं कि राजनीति से अलग किसी चीज का अस्तित्व ही नही। राजनीति का प्रवेश सब जगह है। जब लोग तेन्दु पत्तो की वात करते है तो लोग समझते हैं कि बीड़ी की बात होगी। तेन्दु पत्तियों से केवल बीडियां ही बंधती हों ऐसी बात नही, उससे राजनीति भी बधती है। झोपड़ो मे रहने वाला कोई व्यक्ति जब बीड़ी से धुआं निकालता है तो उस धुएं में राजनीति भी धुआ निकालती है। साधारण दही-बड़े व चाट खाने वाले को पता नही कि उबलते हुए तेल मे राजनीतिक उबाल भी होता है। बड़ा तल जाने के पहले उस मूंगफली के तेल ने न जाने कितने राजनीतिक उबाल खाए हैं? सो मेरी अर्ज है कि क्या तेल, क्या मूगफली? सभी मे राजनीति घुसी हुई होती है। राजनैतिक जलवायु ठीक न हो तो सारी चीजें अनुकूल होने पर भी मूगफली उगेगी नही और यदि उग भी गई तो तेल नही निकलेगा। यह है मूगफली की राजनीति, पेट्रोल की राजनीति। गुड, शक्कर मे भी राजनीति लिपटी रहती है। कई मक्खियां भनभनाती रहती है और कभी-कभी फंस भी जाती है। राजनीति कभी सडक पर चीखती है तो कभी संसद् में गूंजती है। कबीरदास जी तो वेवक्त ही मर गए वर्ना 'माया महाठगिनी हम जानी' के बजाय कुछ और ही लिखते।"

बात पूरी भी न हुई थी कि मजलिस चिल्ला उठी। "खूब, खूब!" परन्तु आलू की राजनीति का क्या हुआ? मेरी जिज्ञासा बोल उठी।

"आलू की राजनीति बिलकुल जरा भिन्न होती है। आलू जमीन के अन्दर ही पनपता है और अन्दर ही अन्दर बढ़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि सारी की सारी प्रक्रियाएं अण्डर ग्राउण्ड ही होती हैं।" मेरा पड़ोसी बोला।

"और ?" मैं उसके मुह की तरफ देखने लगता हूं।

"और क्या ? शास्त्रों में लिखा है कि जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन। आलू खाने वाले के मनोविकार व अन्य बीमारियां भी अन्दर ही अन्दर चलती हैं, पूरी तरह से बढ़ने पर ही सतह पर लायी जाती हैं।"

"जैसे—" मेरे मुह से निकल गया।

"जैसे कि आन्तरिक घुटन, स्नायविक दबाव, कुण्ठाएं वगैरह जो कि आलू की तरह अन्दर ही अन्दर बढ़ते जाएंगे। ये बीमारियां भी आधुनिकता के मापदण्ड हैं। आलू और इनका सम्बन्ध वही है जो गाय और बछड़े का है।"

"और इलाज ?" मैं अपनी व्यग्रता को छुपा नही सका।

"इलाज तो है, कोल्ड स्टोरेज में रखो।"

"वर्ना—"

"वर्ना यह होगा कि आलू उफनने लगेगा, सड़ांध होगी। अन्ततोगत्वा हैजा और महामारियां फैलेंगी। आलू खुले में खराब होता है।" मेरे दोस्त ने सटीक व्याख्या कर दी।

"अब मेरी समझ में आ गया कि आधुनिक सभ्यता आलू की सभ्यता है जो कि कोल्ड स्टोरेज के जरिये जीवित रखी जा सकती है।" मैंने स्वीकार किया।

"देर आए दुरुस्त आए।" मजलिस हंस पड़ी।

आमने सामनें

आज के युग में जब कोई नारा निकलता है तो नगाड़ा बजता है। नगाड़े पर चोट के साथ ऐलान होता है: "मलेरिया को समूल नष्ट करो, मच्छरों को भगा दो।" ···"बीमारियां हटाओ, मक्खियों को मार भगाओ।" ···"भूख की समस्या को दूर करो, चूहे भगाओ।"

···"अशिक्षा हटाओ, अन्धविश्वासों को मार भगाओ।"

एक खासे-अच्छे अधिकारी ने अनपढ़ लोगों की एक सभा बुला ली और उद्बोधन के स्वर मे कहने लगे कि हर व्यक्ति को, चाहे स्त्री हो या पुरुष, शिक्षित होना चाहिए। शिक्षा जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। शिक्षा से जीवन-स्तर ऊंचा उठता है, शिक्षा का महत्त्व व···

अनपढ़ों में से एक अधेड़ व्यक्ति अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरता हुआ खड़ा हुआ और अधिकारी रुक गए। उमर कोई पचास के ऊपर ही होनी चाहिए। दाढ़ी रुपये मे बारह आने चांदी जैसी हो गई थी। बड़े अदब से बोला: ···"आप जो शिक्षा का महत्त्व व माहात्म्य सुनाने जा रहे हैं, वह तो हमारे लिए नयी चीज नहीं है क्योंकि माहात्म्य सुनने के तो हमारे कान आदी हो चुके हैं। औरतें कार्तिक माहात्म्य सुनती हैं। जब-जब कार्तिक का महीना आता है, कार्तिक माहात्म्य शुरू हो जाता है, वही पाठ, वही कथा। हां, 'बांचने वाला' 'बांच' (वाचन) देता है, सुनने वाला सुन लेता है। कार्तिक बीत जाता है, मगसिर आ जाता है। कथावाचक अपनी पोथी फिर से अपने बस्ते में रख देता है। पूरे ग्यारह महीने उसकी कोई 'तिथ नही बांचता' (खबर नही लेता)। इस बीच में अगर दीमक आ धमके तो दूसरी बात है। परन्तु मूल में मेरी शंका यह है और जवाब

चाहूंगा 'हां' या 'ना' मे।"

सभी अनपढ़ो की जमात हंस पड़ी।

"क्या कथावाचक मूल मे एक औपचारिकता के अलावा किसी तरह की रुचि कथा में रखता है? क्या वह उस माहात्म्य से किसी प्रकार अनुप्राणित व प्रभावित है? मोटे तौर पर, क्या उसकी आस्था है?

"अगर कथावाचक की आस्था होती है तो वह अपनी कथा को नित नये रूप में, नये ढग से ऐसे पेश करता कि श्रोताओं के दिलों में भी रुचि पैदा करवा देता।

"अगर श्रोताओ की रुचि होती तो वे कथावाचक के 'गले पड़' जाते और उसे कथा 'बाचने' को विवश कर देते। कथावाचक की क्या मजाल कि वह ग्यारह महीने तक कथा का नाम ही न ले? मैं तो यहां तक कहूंगा कि अगर श्रोताओ मे से एक भी व्यथा या कथावस्तु से दिल प्रभावित हुआ होता तो वह खुद कथावाचक बन जाता और उस 'प्रोफेशनल' कथावाचक को भगा देता। परन्तु मूल मे बात इतनी-सी है कि कथावाचक कथा में रुचि नही रखता। उसकी रुचि है तो उस 'चढावे' में जो कथा-वाचन के दौरान उसे मिलता है। अगर कथावाचक को बीच ही मे पता लग जाए या वह महसूस करने लगे कि फालतू मे 'गोडा घिसन' है तो वह कातिक मास की समाप्ति के पहले ही कथा-समाप्ति की घोषणा कर देगा। दरी उठाने वाले अपनी दरियां व जाजमे उठाकर चल देंगे। हमने तो इस प्रकार के 'माहात्म्य' व महत्त्व की बातें सुनी हैं। अब आप कोई नयी बातें कहना चाहे तो कहे।"

अनपढ़ लोगों की सभा मे एक चुलबुलाहट आ गई। एक प्रकार का जोश दृष्टिगोचर होने लगा। कुछ दादें मिलने लगीं।

"वाह रे 'बेगा' ताऊ। बात 'मरम' की कही है।"

एक प्रकार की सामूहिक अभिव्यक्ति। सभी अनपढ़ों की मुख-मुद्रा से ऐसा आभास हो रहा था और वे सभी इतने खुश थे जैसे कि चौधरी बेगाराम को, जिसने जमाने के कई तेवर देखे हैं, कोई डाक्टरेट मिलने जा रही है।

वक्ता महोदय ने कभी अन्दाज ही नहीं लगाया था कि शहरी शब्दावलि मे अनपढ ग्रामीणो की सभा में भी कोई 'भाटा' फेंक सकता है। वह

कुछ देर तो अवाक् रहे, परन्तु शीघ्र ही अपने को संभाल लिया और बोले, "भाई बेगाराम, तुम कहना क्या चाहते हो ? मैं कोई कथा 'बांचने' नही आया हूं। तुम गांव वालो से यही तो दिक्कत है कि तुम बात समझते नही और न समझने की कोशिश करते हो।"

"इस बात को आप यो कहो," बेगाराम ने बात 'झप' ली और कहना जारी रखा, "गांव का आदमी बात सूघ लेता है, बात उसकी समझ मे चाहे नही आती हो। हर जानवर व हर अनपढ़ आदमी की सूंघने की शक्ति नहीं मरती। वह दोस्त व दुश्मन का फर्क सूघकर पता लगाता है, समझकर नही। परन्तु ज्यों-ज्यो आदमी पढ़ता जाता है, उसकी सूघने की शक्ति लोप होने लगती है।"

मैं चुपचाप देखता रहा, एक असमान दगल, दो व्यक्तियों के बीच। एक तरफ तो वह व्यक्ति जो एक बहुत बड़े दफ्तर मे बैठता है, कार मे चढ़कर आता है। गर्मी मे कूलर लगे हुए कमरे मे बैठकर 'बेगाराम' की समस्याओं के बारे में सोचता रहता है। 'बेगाराम' की समस्याएं क्या हो सकती हैं, इसके बारे मे किताब खोलता है। फिर किताब खोलता है, समाधान पढता है, समस्याएं कैसे सुलझने-उलझने लगती है।

बेगाराम की समस्याएं 'बेगी' सुलझें, इस मकसद से वह कनाडा जाता है, आर्कटिक वृत्त में रहने वाले लोगों से पूछता है कि बेगाराम की समस्या का निदान बताओ। 'बेगाराम' सीनिअर तो मर गया और उसकी समस्याए उसके साथ ही सती हो गई। अब इस नये बेगाराम की समस्या। बेगाराम जूनिअर्स कई हो गए। फिर जूनिअर्स के कई जूनिअर्स हो गए। समस्याएं सुलटनी चाहिए।

वेगाराम की समस्या के लिए वह इंग्लंण्ड गया रसेल रिपोर्ट पढ़ी। जर्मनी गया। यूनेस्को से बात की। अगर कही चूक हुई तो वस इतनी-सी कि उसन 'बेगाराम' से बात नही की। बेगाराम की समस्या के लिए तो सात समुद्र पार तक की खाक छान सकता है, परन्तु 'बेगाराम' से क्या बात करे ? एक मूलभूत दिक्कत है। एक दीवार है। बेगाराम सूंघता है, समझता नही। उसके पास 'इंस्टिक्ट' है, 'इन्टलैक्ट' नही। उसको व्यवहार पद्धति 'इंस्टिक्टिव' है। प्रोफेसर साहब जानते हैं कि इसी आधार पर तो

जानवर चलते हैं। बात सही भी है। बेगाराम की बिरादरी में आदमी और जानवर दोनों ही आते हैं। उसने अपनी गाय, बैल, ऊंट, भैंस को भी पारिवारिक सदस्य का रूप दे रखा है। उसकी खाट के पास ही खड़ी रहती है उसकी गाय, जो कभी प्यार का प्रदर्शन करने के लिए उसकी हथेली को चाटने लगती है।

मैं सोचने लगा। प्रोफेसर शायद कुतुबमीनार पर खड़ा होकर बात कर रहा है और उस ऊंचाई पर खड़ा होने के कारण जमीन पर खड़े हुए बेगाराम की समस्याएं उसे सही रूप में दिखाई नहीं देतीं और जब वह दूरबीन लगाकर देखता है तब उसे उनका स्वरूप सही दिखता नहीं। वह आसान को कठिन समझ लेता है और कठिन को आसान।

मैं खो जाता हूं। क्या प्रोफेसर और बेगाराम में कोई 'डायलोग' है। बेगाराम की धड़कनें तो दूर रहीं क्या बेगाराम की बात, उसकी अनुभूति की तीव्रता प्रोफेसर साहब को सुनाई पड़ती है? सुनने के बाद समझने की प्रक्रिया और होती है। दोनों दो लहजों में बात करते हैं। उनके बीच क्या 'इण्टरप्रेटर' की आवश्यकता नहीं? मैं गम्भीरता के साथ सोचने की कोशिश करता हूं कि इसी बीच मेरा तार टूट जाता है जब प्रोफेसर साहब और बेगाराम के संवाद, का 'वाल्यूम' कुछ तेज हो जाता है। "तुम क्या कहना चाहते हो, बेगाराम? आखिर तुम्हारी बात क्या दो-टूक शब्दों में नहीं कही जा सकती है?" प्रोफेसर बोले।

"आप बिल्कुल ठीक कहते हैं, परन्तु यह समस्या तो उन लोगों की है जो अपने आपको पढ़ा-लिखा कहते हैं। पढ़े-लिखे आदमी को या तो बात कहनी नहीं आती या जान-बूझकर वह अपने मतलब के लिए शब्दों का जाल फैला देता है। चलो, मैं अपनी बात दो-टूक शब्दों में कह देता हूं परन्तु इस उम्मीद के साथ कि आपका जवाब भी दो-टूक शब्दों में हो। मेरा सवाल है: एक आदमी को कितना साक्षर होना चाहिए और कितना शिक्षित?"

सभी अनपढ़ों की टोली एकदम गम्भीर। उन्होंने सूंघकर पता लगा लिया कि बात हंसी की नहीं है।

"तुम्हारा मतलब मैं समझा नहीं, भाई बेगाराम!" प्रोफेसर ने कहा।

"प्रोफेसर साहब, दिक्कत यहां है और यही है । चलो, मैं उदाहरण देकर बात समझाता हू ।

"कुछ दिन पहले यहां एक डाक्टर साहब आए थे और समझाने लगे कि आदमी को नीरोग रहने के लिए इतनी 'कैलोरी' चाहिए । हमने पूछा कि यह कैलोरी कहां मिलती है, तो कहने लगा कि कैलोरी अलग-अलग मात्रा में हरेक चीज मे मिलती है । दाल में, सब्जी मे, गेहूं मे, अण्डे में, दूध मे, दही मे आदि। पूरी मात्रा मे कैलोरी प्राप्त करने के लिए दाल खाओ, दूध पिओ, सब्जी खाओ कि कुल मिलाकर कैलोरी का टोटल पूरा हो जाए ।

"हमने सवाल किया कि अगर कुछ कमी-बेशी रह जाए तो ?

"डाक्टर ने समझाया कि शरीर को पूरा भाडा नही दिया तो तुम्हारे दांत जल्दी टूट सकते है, जोड़ों में दर्द आ सकता है, दम फूल सकता है और दुनिया से भी समय से पहले जाना पड़ सकता है । सोच लो, समझ लो। डाक्टर ने बिना चम्मच ही बात हमारे गले उतार दी । यह तो हुई बात । हरेक आदमी की समझ में आ गई कि कोरा चावल खाना खतरे से खाली नही । कोरी चीनी खाकर कोई जी नही सकता । हम समझ गए कि शरीर की कैलोरी का टोटल पूरा करना है, वर्ना खतरा है । कैसे ही करो, दाल खाकर, दूध पीकर, रोटी खाकर । अगर इसका हिसाब चुकता नही किया तो वह तो 'बनिये' की तरह पुरानी बाकी निकालकर बोझ बढा देगा । घर छुड़वा देगा । बनिये का भी हिसाब चुकता रहना चाहिए, वैसे ही शरीर-रूपी बनिये का भी हिसाब पूरा रखना चाहिए । वर्ना अस्पताल जाओ, दवाइयां खाओ, खाट सेवो । यह ब्याज महगा पड़ेगा, यह बात आसानी से समझ में आ जाती है । लेकिन आप लोग भाषण झाड देते हैं, परन्तु दो-टूक शब्दो में क्यों नही बताते कि हमें कितना साक्षर होना चाहिए, उसका कोई नाप-जोख भी है कि नही ? अगर कोई साक्षर हो गया तो उसमें क्या फर्क पड़ेगा ? क्या साक्षर हुए बिना कोई शिक्षित नही हो सकता है ? क्या केवल नाम-मात्र लिखना सीख गया तो कोई 'वैतरणी' पार हो गया ?"

सारी की सारी सभा बेगाराम की बात सुन रही थी बड़ी तन्मयता

से। अनपढ़ बेगाराम एक पढ़े हुए की बोलती बन्द कर रहा था।

बेगाराम को शान्त रहने व अपनी जगह पर बैठने का संकेत देते हुए प्रोफेसर साहब कहने लगे :

"तुम्हारी बात से मैं सहमत हूं और इसीलिए ये विभिन्न प्रकार की योजनाएं बनाई जा रही हैं और ये केन्द्र खोले जा रहे हैं। आप इन केन्द्रों के संचालन में मदद करो। अध्यापक जो पढ़ाने आएं उनसे सहयोग करो। समूल निरक्षरता-निवारण करने की योजना है। आप सब लोगों के सहयोग से ही तो हम सब मिलकर इस महान कार्य का सम्पादन कर सकते है।

"मैं ज्यादा तो नहीं कहूंगा क्योंकि आजकल लोग काम करना तो नहीं जानते परन्तु काट करना जानते हैं। मैं बिना मतलब की बहस नहीं करूंगा। परन्तु एक बात कहूंगा।

"आप देखिए, इस गांव में (ऐसे ही अन्य गांवों में) सभी लोगों ने ऊंटगाड़ी और बैलगाड़ी में टायर के चक्के लगा रखे हैं, पुराने लकडी के पहिये खत्म। ये हवाई जहाज वाले चक्के लकड़ी वाले पुराने चक्को से कहीं ज्यादा महंगे हैं, परन्तु किसी से कहो तो सही कि अपनी गाड़ी में पुराने टाइप के लकड़ी के चक्के लगवा लो।

"मुझे बताइए तो, इन रबड़ के चक्कों की वकालत किसी ने की? कोई भी योजना हो, कोई नयी बात हो, वह चल तब ही सकती है जबकि उसकी उपादेयता समझ में आ जाए। लोगों के गले उतर जाए।

"ये प्रौढ़ क्या पढ़ेंगे! आप चाहते हो कि ये पढ़ें, 'यह कलम है; यह दवात है, यह गेंद है।' ये चीजें तो उसने बहुत पहले देख ली थीं। प्रौढ़ को यह बहुत बचकाना बात लगती है। पढ़ाने वाला बच्चा लगता है। जब वह देखता है कि पढ़ाने वाले अध्यापक को चालीस रुपया मिलता है तो उसके मानस में एक प्रतिक्रिया जागती है। वह प्रतिक्रिया होती है रहम की, दया की, दया की उस व्यक्ति की विवशता की जो 40 रुपये महीने की प्राप्ति के लिए अध्यापक का मुखौटा लगाकर, अपने सही चेहरे को छुपाकर, अपनी आर्थिक मजबूरियों पर पर्दा डालकर, प्रौढ़ों को पढ़ाने का स्वांग करता है।

"किसी भी अध्यापक के लिए आवश्यक है कि पढ़ने वालों के दिलों

से अपने अध्यापक के प्रति श्रद्धा के भाव जाग्रत हों, पढ़ाने वाला अनुकरणीय हो, उसके जीवन में कुछ जीवनदर्शन का आभास हो, परन्तु इसके विपरीत जब पढ़ाने वाले के प्रति श्रद्धा के बजाय रहम के भाव जागें, बिना कहे ही उसकी मजबूरियां व अभाव की स्थितियां मुखरित हों तो फिर उस अध्यापक से पढ़ने वाले क्या पढ़ेंगे ?

"उनका निष्कर्ष होगा तो यही कि यह हमारा अध्यापक पढ़-लिखकर भी, इतना अभावग्रस्त व आर्थिक दृष्टि से इतना बेबस है कि वह चालीस रुपये में अपनी मजदूरी बेच रहा है। हर प्रौढ़ जानता है कि मजदूरी मजदूरी ही होती है, चाहे बेजे पर जाए, चाहे मिट्टी खोदे, चाहे पढ़ाने जाए। मजदूरी के पीछे मजबूरी होती है, सेवाभाव नहीं, इसी रहम के पीछे, वह शिकायत नहीं करता कि अध्यापक निरन्तर आता है कि नहीं।

"केन्द्र कागज में चलता है, परन्तु कोई देहाती, कोई प्रौढ़ शिकायत नहीं करता और अगर कोई अधिकारी पूछे तो भी इनकार कर जाता है। क्यों? कारण के लिए दूर नहीं जाना पड़ता। उसके खून में एक बात चली आ रही है कि किसी के पेट पर लात मत मारो। कोई पल रहा है तो पलने दो। पेट पर लात मारने से पाप लगता है।

"यह है एक स्थिति, सही स्थिति अन्धा अन्धों को रास्ता दिखा रहा है। बोलो प्रोफेसर साहब ! यह है न कार्तिक माहात्म्य। सही चित्रण।

"अगर आप जानते नहीं तो फिर कनाडा जाइए, कारण ढूंढ़कर लाइए। अगर जानते हुए भी अनजान बने हुए हैं तो आप अपना कार्तिक-माहात्म्य बांचते जाइए।

"जागते हुए को कौन जगाए। परन्तु आप पर हम रहम नहीं खा सकते। आप और उस अध्यापक में फर्क उतना ही है जितना कि 'बाटा' में और साधारण मोची में।"

यह कहते हुए बेगाराम बैठ गया। वातावरण गम्भीर हो गया।

प्रोफेसर साहब भी गम्भीर। कुछ देर मौन रहने के बाद मौन भंग किया: "हो सकता है तुम ठीक कहते हो बेगाराम। कोई है इलाज? तुम्हारे सोचने का तरीका और, हमारा तरीका और। इन दो के बीच का

फासला कैसे पाटा जाए ? एक दिशा में क्या बढ़ना सम्भव नही है, या लाइलाज है।"

मुझसे रहा न गया, मैं खड़ा हो गया, बोल पड़ा : "इलाज है। ऐसा इलाज जिसे बेगाराम भी समझ लेगा, परन्तु बेगाराम से पहले आपको समझना होगा। बेगाराम का दिल मजबूर है, दुरुस्त भी है। वैसे ही उसके हाथ और इन्द्रियां भी।"

"तुम्हारे हिसाब से सारी गड़बड़ियां मुझमें हैं, क्या बकवास करते हो ?" प्रोफेसर झल्ला पड़ा।

"नाराज न होइए, मेरी बात पर गौर फरमाइए। मैं जो अर्ज कर रहा हूं, वह बात है, एक व्यवस्था की और आप उसे व्यक्तिगत स्तर पर ले रहे हैं। व्यक्तिगत स्तर पर सोचने का काम है बेगाराम का, आपका नही।"

प्रोफेसर ने मेरी तरफ देखा। रुख में तब्दीली नजर आई और मेरी हिम्मत हुई कि मैं बात कह दूं। बोला : "देखिए प्रोफेसर साहब, समस्या का समाधान बहुत सीधा-सा है, परन्तु जरा-सी हिम्मत की जरूरत है।"

"मतलब ?" प्रोफेसर साहब ने मेरी तरफ देखा।

"मतलब यह है कि आप बेगाराम को अपने जैसा सभ्य, सुसंस्कृत व शिक्षित नही बना सकते, परन्तु आप बेगाराम बन सकते है। क्या यह सम्भव नही ?"

प्रोफेसर साहब मेरी तरफ इस अन्दाज से देखने लगे जैसे कि मैं पागल होने वाला हू। मुझे मन ही मन हंसी आई, पर बात चेहरे पर नही आने दी और उसी लहजे मे कहना जारी रखा : "इस देश में लाखों-करोडो बेगाराम हैं और हजारो प्रोफेसर। कम ही होंगे, ये पढे-लिखे लोग। उनके पास शिक्षा है और शिक्षा के साथ मिलने वाली संस्कृति, एक सभ्यता का आवरण। इस अल्पसंख्यक वर्ग को 'इलाइट' कहते हैं। उनकी सामाजिकता है, उनके रहन-सहन का तरीका, सोचने का तरीका, सामाजिक स्तर पर मिलने-जुलने वगैरह का अपना 'एटीकेट' है और ये सारी की सारी चीजें बेगाराम के वश की बात नही। बेगाराम आपके

यहां चाय पीने आ भी जाए तो वह हैरत में फंस जाता है, वह आपकी ओर देखेगा कि आप किस तरह चाय पीते हैं, किस तरह कप और प्लेट पकड़ते हैं, चीनी किस प्रकार मिलाते हैं। बेगाराम के सिर पर सौ तरह की मुसीबतें।

"परन्तु आप बेगाराम बन जाएं तो आपको कहां दिक्कत ! कहां अस्वाभाविकता है।"

"अगर कोई लारेंस बनकर रह सकता है, तो आप बेगाराम बन जाएं तो क्या बेजा है और आपका क्या घट जाएगा ? महात्मा गांधी ने बैरिस्ट्री पास की, सूट-बूट भी पहना, परन्तु जब वह बेगाराम से मिला तो गांधी को यह बात जंच गई कि अगर बेगाराम मेरा अजीज है तो मुझे भी बेगाराम की तरह रहना चाहिए। बेगाराम कमीज नहीं पहनता तो फिर मैं क्यों पहनूं? बेगाराम घुटनों से नीचे तक धोती पहनने के लिए सक्षम नहीं है तो फिर मैं क्यों पहिनूं ? बैरिस्टर मोहनदास बेगाराम से मिलकर उसके साथ एकरस हो गया। दोनों के दिलों की धड़कनों में एक 'सिम्पेथिटिक वाईब्रेशन' होने लगा। उसने बेगाराम के लिए सूट छोड़े, कोट छोड़े, अधनंगे फकीर हो गया। बेगाराम बोला. 'तू तो महात्मा है।'

" 'नहीं बेगाराम, मैं तो दरिद्रनारायण हूं, बेगाराम का ही रूप।'

"बोलिए, यह क्या हुआ, यह क्या प्रक्रिया थी। गांधी की शिक्षा कहां गई, उसकी 'कल्चर' का क्या हुआ ? है जवाब कोई आपके पास ?

"गांधी ने अपने-आपको 'डी-कल्चर' कर लिया। गांधी ने अपनी शिक्षा को 'डी-एजूकेशन' में बदल दिया। यही बात राजा जनक ने की। वह विदेह बन गया—विदेह यानी 'डी-एग्ज़िस्टेंस'।

"आज का मानव शिक्षा प्राप्त करके अपने-आपको 'डी-ह्यूमनाइज' कर रहा है—एक हृदयहीन, संवेदनविहीन प्राणी। वह एकाकी है। यंत्रवत् जीता है। उसके पास मशीनें हैं। हाथ में बंधी हुई घड़ी की टिक-टिक तो वह सुन लेता है। हर घड़ी वह घड़ी की ओर देखता है, परन्तु अपने साथी आदमी के बच्चे की धड़कनें वह नहीं सुन सकता।

"अगर इस देश के ये पढ़े-लिखे लोग, यह सोचने का गुनाह करें कि बेगाराम से अलग उनका अस्तित्व है तो यह उनका भ्रम है। वे लोग

बेगाराम से काफी दूर आ चुके हैं। यह परायेपन की स्थिति अगर जल्दी ही नहीं सुधार गई तो प्रोफेसर साहब, जड़ें नहीं रहेंगी। और 'छिन्ने मूले नैव फलं न पुष्पम्।'

"सो मेरा नम्र निवेदन है कि बेगाराम को साक्षर और शिक्षित करने का एकमात्र तरीका यही है कि आप अपनी शिक्षा को भूलिए। कल्चर का लबादा दूर फेंककर अपनी कल्चर को भूलिए। बेगाराम के साथ एकाकार बनिए। उसकी आकांक्षाओं के साथ, उसके जानवरों के साथ, उसके माहौल के साथ। फिर बेगाराम का दिल देखिए, वह दिल और दिमाग खोलकर रख देगा। उसका भाई चारा देखिए। वह आपको बेहद प्यार देगा—इतना प्यार कि आपको प्यार का उमड़ता हुआ समुद्र नजर आएगा। वह आपकी हर बात मानेगा। फिर आप उसे बताइए कि उसकी गाय का दूध कैसे बढ़ सकता है, उसके खेतों में धान कैसे बढ़ सकता है। तब बेगाराम का जोश देखना, वह क्या कर सकता है—देश के लिए समाज के लिए। वह निरक्षर होते हुए पढ़ा-लिखा हो जाएगा। वह अशिक्षित शिक्षित। और आप—शिक्षित अशिक्षित। मगर दोनों के दिमाग एक ही 'वेव लेंग्थ' पर काम करेंगे।"

प्रोफेसर की तरफ देखा—उसकी आंखें मेरी तरफ। लोगों की आंखें मेरी तरफ।

मेरी आंखें बन्द हो गईं और बंद आंखों से देखता हूं और सोचने लगता हूं: बेगाराम कितना साक्षर हो, कितना शिक्षित हो, कितना समझदार हो, उसकी युगों से चली आ रही धुन्ध धुले, आजादी की रोशनी देखे भी और महसूस करे। रोशनी की किरणें उसके घर के आंगन में, उसके हर कोने में पहुंचें। अगर कोई चीज बाधा डालती है, रोशनी के बीच दीवार बनकर खड़ी हो जाती है तो उसमें इतनी समझ और हिम्मत भी हो कि दीवारें हटा दे। साक्षर होना जरूरी है, पर समझदार होना, दिमाग में कुछ बल जगे, यह उससे भी ज्यादा जरूरी है। बंद आंखों के आगे इतिहास घूम जाता है। अकबर, हैदरअली, रणजीतसिंह।

आंखें खोलता हूं। वहां कोई नहीं था। केवल मैं।

●●●